श्री रामकृष्ण-विवेकानंद भाव-धारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

विवेक शिखा

वर्ष-८ जून-१९८९ अंक-६

Sw. Nikhileshwaranandajee Maha

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

४१. श्री नीरज गुप्ता—रायपुर (मध्य प्रदेश)
४२. डॉ० गीता देवी—४४, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४३. डॉ० शैल पाण्डेय—४१, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४४. श्री रामानन्द गुप्ता—बिसवा (उत्तर प्रदेश)
४५. श्री निशीथ कुमार बोस—तपन प्रिंटिंग प्रेस, पटना
४६. श्री नरेश कुमार कश्यप—नागपुर (महाराष्ट्र)
४७. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द समिति—अमराबती ,,
४८. डॉ० दर्शन लाल—कुराली (पंजाब)
४९. श्री गोविन्द झनझनिया—कलकत्ता (प० बंगाल)
५०. श्री निखिल शिवहरे दमोह (म० प्र०)
५१. श्री बी० भी० नागोरी - कलकत्ता (पं० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा - समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री चिनुभाई भलाभाई पटेल -खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० सी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र बाजपेयी जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८. श्रीमती गौरी चट्टोपाध्याय—एलेन गंज, इलाहाबाद
५९. श्री बसन्त लाल जैन—कैथल (हरियाणा)
६०. डॉ० श्यामसुन्दर बोस दूधपुरा बाजार (समस्तीपुर)
६१. श्री केशव दत्त वशिष्ठ—हिसार (हरियाणा)
६२. श्री के० सी० बागरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
६३. मधु खेतान—कलकत्ता (प० बंगाल)
६४. प्रधान अध्यापिका—डोरांडा गर्ल्स हाई स्कूल, रांची
६५. रामकृष्ण मिशन स्टूडेन्ट्स होम—मद्रास
६६. श्री विनयशंकर सिन्हा—दाऊदपुर, छपरा
६७. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम—इलाहाबाद
६८. श्रीमती मीरा मित्रा—इलाहाबाद
६९. स्वामी शान्ति नाथानन्द—रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद
७०. श्रीमती उषा श्रीकांत रेगे - दादर, बम्बई
७१. कुमारी इन्दु जोशी—उत्तरकाशी (उ० प्र०)
७२. श्री के० अनूप - रोइंग (अरुणाचल प्रदेश)
७३. गंगा सिह महाविद्यालय—छपरा (बिहार)
७४. डॉ० उषा वर्मा छपरा (बिहार)
७५. श्री विजय कु० प्रभाकर राव शंखपाल (महाराष्ट्र)
७६. श्री विजय कुमार सिह, झुमरीतिलैया (बिहार)
७७. श्री रघुनन्दन सेठी कोटा (राजस्थान

इस अंक में

रामकृष्ण मठ एवं मिशन के नये उपाध्यक्ष
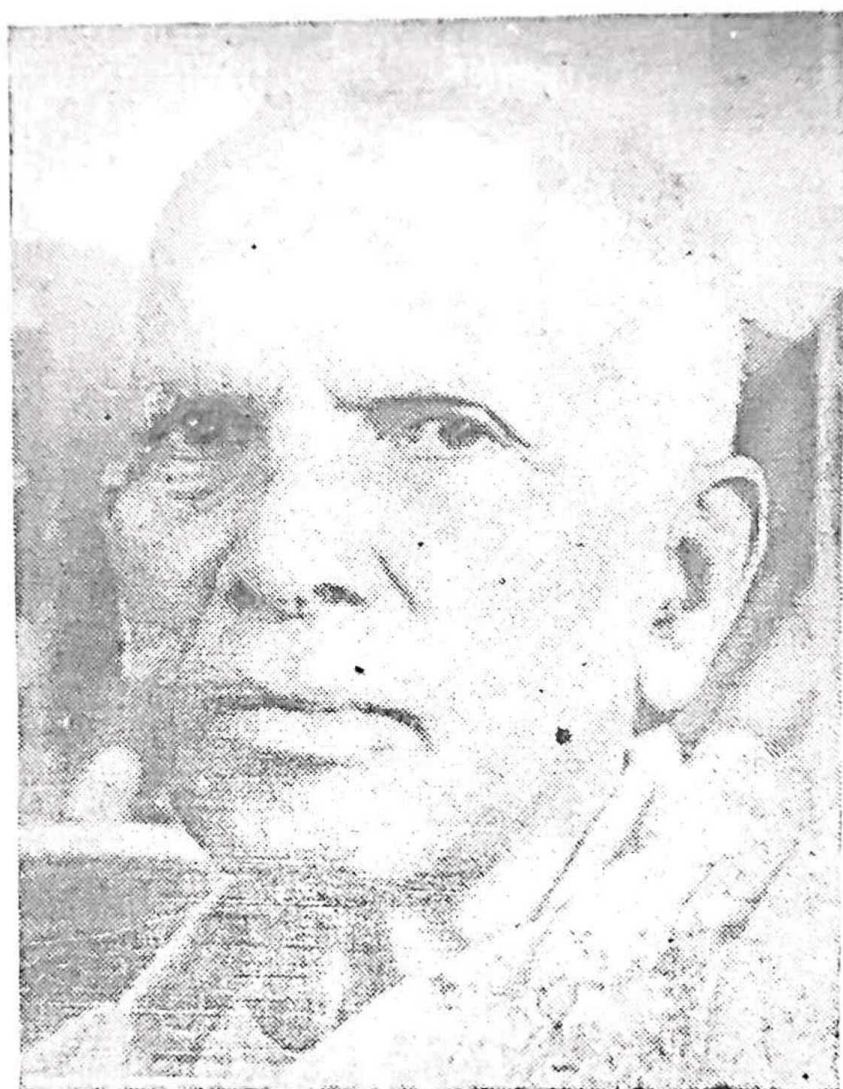
श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज

[बड़े हर्ष के साथ हम यह सूचित करते हैं कि विगत अप्रैल, १९८९ ई० में रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन के न्यासी, वेदान्त के विश्व विख्यात व्याख्याता, रामकृष्ण-विवेकानन्द भावादर्श के प्रख्यात प्रस्तोता, 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकात्मा' पुरस्कार से सम्मानित, प्रखर वाग्मी एवं मनीषी पूजनीय श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज सर्व सम्मति से रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सहाध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं। हम आपका आन्तरिक अभिनन्दन करते हुए आपको श्रद्धापूर्ण प्रणाम निवेदित करते हैं।—सं०]

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष — ८ जून—१९८९ अंक— ६

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक
शिशिर कुमार मल्लिक
श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	२५ रु०
रजिस्टर्ड डाक से	४० रु०
एक प्रति	३ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें :

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

अँधेरे में गश्त लगानेवाला पहरेदार अपनी लालटेन के उजाले से सबको देख सकता है पर उसे कोई नहीं देख पाता। अगर वह स्वयं उस लालटेन का प्रकाश अपने पर डाले तो ही उसे देखा जा सकता है। उसी प्रकार, भगवान् भी सब को देखते हैं, परन्तु उन्हें कोई नहीं देख पाता। पर यदि वे कृपा करके स्वयं को प्रकाशित करें तो ही मनुष्य उन्हें देख पाता है।

(२)

बच्चे का स्वभाव हो है अपने को कीचड़-मिट्टी में सान लेना, पर माँ उसे गन्दा नहीं रहने देती, नहला-धुलाकर साफ कर देती है। इसी तरह मनुष्य का स्वभाव ही पाप करना है, परन्तु वह कितना भी पाप क्यों न करे, भगवान् उसके उद्धार का उपाय कर ही देते हैं।

(३)

भगवान् मानो चीनी के पर्वत हैं और भक्तगण चीटियाँ। छोटी चींटी चीनी के पर्वत में से एक छोटा कण ले जाती है और बड़ी चींटी कुछ बड़ा कण; परन्तु पर्वत जैसा का वैसा ही रहता है। इसी प्रकार भक्तगण भी अनन्तभावमय भगवान् का एक-एक भाव पाकर ही परिपूर्ण हो जाते हैं; सम्पूर्ण भावों को कोई ग्रहण नहीं कर पाता।

(४)

ज्ञान एकत्व की ओर ले जाता है, अज्ञान नानात्व की ओर।

दूर करो अज्ञान

— सारदा तनय

(मिश्रयमन कहरधा)

जननी दूर करो अज्ञान।
माया-मोह-नींद में सोऊँ,
देख भय-सपन व्याकुल होऊँ।
शीघ्र जगा दे, भीति भगा दे,
करा अमियरस पान ॥
मोह-पंक से मुझे उठा ले,
धुला कलुष अंक में बिठा ले।
कैसा भी होऊँ पर मैं तो,
तेरी ही संतान ॥
तू तो माँ करुणासागर है,
असंतुष्ट क्यों मुझ ही पर है?
प्रसन्न हो अब दिखा मुझे कुछ
करुणा की पहचान ॥

भजन

—श्री पूनम चन्द तोमर
बीकानेर

(राग-केदारा)

तेरे दर्शन से दुःख दूर हुए, हे रामकृष्ण भगवान ॥
शाक्त, शैव, वैष्णव, वेदान्ती, सबको मिली है शाश्वत शान्ति,
हुआ बोध और मिट गयी भ्रान्ति, बोले जय भगवान।
तेरे दर्शन से दुःख दूर हुए, हे रामकृष्ण भगवान ॥
द्वैताद्वैत का भेद मिटाया, ज्ञानी भक्त को साथ बिठाया,
योगी पंडित जो कोई आया, सबको दिया सम्मान।
तेरे दर्शन से दुःख दूर हुए, हे रामकृष्ण भगवान ॥
जो कोई तेरा ध्यान लगावे, जन्म-मरण का दुःख मिट जावे,
जीवनमुक्ति सहज ही पावे, कर्म करे निष्काम।
तेरे दर्शन से दुःख दूर हुए, हे रामकृष्ण भगवान ॥

श्रीरामकृष्ण की आत्मकथा

श्री श्रीरामकृष्ण देव

उस समय—साधना के समय ध्यान करता हुआ मैं देखता था, एक आदमी हाथ में त्रिशूल लिए हुए मेरे पास बैठा रहता था। मुझे डराता था, अगर मैं ईश्वर के चरणकमलों में मन न लगाऊँ तो वह वही त्रिशूल भोंक देगा। मन ठीक अगर न रहा तो छाती में घाव हो जाने का डर था।

कभी माँ ऐसी अवस्था कर देती थी कि नित्य से उतर कर मन लीला में आ जाता था और कभी लीला से नित्य पर चढ़ जाता था।

जब मन लीला में उतर आता था, तब कभी-कभी दिनरात मैं सीताराम की चिन्ता किया करता था। और सदा मुझे सीताराम के रूप भी दीख पड़ते थे, - राम लाला (अष्ट धातुओं से बनी हुई राम की एक छोटी-सी मूर्ति) को लिये सदा मैं घूमता था, कभी उसे नहलाता था, कभी खिलाता था। मैं कभी-कभी राधाकृष्ण के भाव में रहता था। उन रूपों के सदा दर्शन भी होते थे। कभी फिर गौरांग के भाव में रहता था। यह दो भावों का मेल था - पुरुष और प्रकृति के भावों का। इस अवस्था में सदा ही गौरांग के दर्शन होते थे। फिर यह अवस्था बदल गई। तब लीला को छोड़कर मन नित्य में चढ़ गया। सहजन के पत्ते और तुलसी के दल, सब एक जान पड़ने लगे। ·····

मैंने सब तरह की साधनाएँ की हैं सात्विक, राजसिक और तामसिक। सात्विक साधना में उन्हें व्याकुल होकर पुकारा जाता है अथवा केवल उनका नाम मात्र लिया जाता है, कोई दूसरी फलाकांक्षा नहीं रहती। राजसिक साधना में अनेक तरह की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं—इतने बार पुरश्चरण करना होगा, इतने तीर्थ करने होंगे, पंचतप करना होगा, षोडशोपचारों से पूजा करनी होगी, यह सब। तामसिक साधना तमोगुण का आश्रय लेकर की जाती है। जय काली! क्या, तू दर्शन न देगी?—यह देख गले में छुरी मार लूँगा, अगर तू दर्शन न देगी। इस साधना में शुद्धाचार नहीं है, जैसे तंत्रोक्त साधना।

उस अवस्था में—साधनावस्था में—बड़े विचित्र विचित्र दर्शन होते थे। आत्मा का रमण मैंने प्रत्यक्ष किया। मेरी ही तरह का एक आदमी मेरी देह में समा गया, और षट्पद्मों के हरएक पद्म में वह रमण करने लगा। छहों पद्म मुँदे हुए थे, उसके रमण के साथ ही हरएक पद्म खुलकर ऊर्ध्व मुख हो जाने लगा। इस तरह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा सब पद्म खिल गये। और मैंने प्रत्यक्ष देखा, उनके मुख जो नीचे थे, ऊपर हो गये।

साधना के समय ध्यान करता हुआ मैं अपने पर दीपशिखा के भाव का आरोप करता था,—जब हवा नहीं रहती है तब वह बिलकुल नहीं हिलती,—इसी भाव का आरोप करता था।

ध्यान के गम्भीर होने पर बाहरी ज्ञान का नाश हो जाता है। एक व्याध पक्षी मारने के लिए निशान साध रहा था। उसके पास ही से वर-बराती, गाड़ी-घोड़े, बाजे-कहार, बड़ी देर तक जाते रहे, परन्तु उसे कुछ भी होश न था। वह नहीं समझ सका कि पास से बरात कब निकल गयी।

स्वामी विवेकानन्द : मनीषियों की दृष्टि में

अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

(१२) डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन में देखा है कि उस काल के नवयुवक विशेष श्रद्धा के साथ स्वामीजी के ग्रन्थ पढ़ा करते थे। आज के युवकगण भी स्वामीजी के प्रति वैसी ही श्रद्धा व्यक्त करते हैं। जगत् के विभिन्न धर्मों के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं; परन्तु स्वामीजी के ग्रन्थालोक में विश्व के विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच एकता का स्थापन सम्भव है। चिरन्तन पथ की खोज करने के लिए एकमात्र स्वामीजी द्वारा प्रदर्शित उपाय ही आदर्श और युक्तियुक्त है।··· ईश्वर में विश्वास होना साधारण बात नहीं है, उसके लिए रीति-पूर्वक साधना की आवश्यकता है। यह साधना ही स्वामीजी के जीवन में प्रतिफलित हुई।

विवेकानन्द का आविर्भाव एक जबर्दस्त बौद्धिक उफान, नैतिक अव्यवस्था और बिखरते हुए मूल्यों के काल में हुआ। लोग समझ नहीं पाते थे कि किधर जाएँ। सभी विज्ञान के भाव से अभिभूत थे और ऐसा महसूस करते थे कि विज्ञान ईश्वर की सत्यता को प्रमाणित कर देगा। परन्तु ईश्वर को दरकिनार किया जा रहा था। वे सोचते थे कि अब हम पूरी तौर से बरबाद होने को बाध्य हैं। विवेकानन्द के जीवनकाल में ऐसी ही भावधारा का प्राबल्य था। एक ऐसे काल में, विज्ञान के भाव से अनुप्राणित, वे श्रीरामकृष्ण से मिले और उनसे एक सीधा प्रश्न किया, 'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' और इस प्रश्न का उत्तर भी वैसा ही स्पष्ट मिला जिसने विवेकानन्द की समस्त समस्याओं को समाप्त कर दिया। यहाँ भाव यह है कि अनन्त की सजीव अनुभूति ही परम-सत्य है। यह सत्य की उपलब्धि का सीधा मार्ग है। इसमें ईश्वर के बारे में चर्चा करने, मन्त्रोच्चारण करने अथवा स्तोत्रपाठ करने जैसा कुछ नहीं है, अपितु परमब्रह्म के सम्मुखीन होकर अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को उन्नीत करके प्रत्यक्षानुभूति करना, जैसा कि भगवद्गीता में अर्जुन और कृष्ण ने किया था। सच्चे धर्म का यही तात्पर्य है। हमारे देश की यही शिक्षा रही है। काल के रहस्य को देखने वाले ऐसे ही लोगों को हम धार्मिक व्यक्ति कहकर सम्मान देते हैं।······

विवेकानन्द ने यह महसूस किया कि हम लोग बातें तो बड़ी बड़ी करते हैं, पर उन्हें आचरण में नहीं लाते। हमने रसोईघर का धर्म अपना लिया है। अपने देश का एक हिस्सा तो उन्हें पागलखाने जैसा लगा। उन्होंने कहा, 'जो लोग ईश्वर की बातें करते हैं, वे आचरण क्यों पशुवत् करते हैं?' जब विवेकानन्द शिकागो की धर्म महासभा में गये तो वहाँ उन्होंने सार्वभौमिक दृष्टिकोण पर ही सर्वाधिक बल दिया और आज भी हमें उसी दृष्टिकोण को सुरक्षित रखना है। धर्म का सार-सर्वस्व है, उसके तीन मूलतत्व : ब्रह्म की प्रत्यक्षानुभूति, ब्रह्म-तत्व को जानने में मानव-मन की असमर्थता और करुणा का भाव। बाकी सब साजसज्जा है, उनका धर्म के मूलतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं। रामकृष्ण और विवेकानन्द ने धम के इन्हीं तत्वों पर जोर दिया। और आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इनका महत्व समझें और न केवल सैद्धान्तिक अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी उन्हें अपना लें।···

इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही हमारे सभी धर्मशास्त्रों ने ईश्वरीय चेतना को अनुभवगम्य बताया है।

प्रत्येक व्यक्ति में वह दिव्य क्षमता निहित है और इस क्षमता, इस संभावना को अभिव्यक्त करके ईश्वर का साक्षात्कार करना उसका कर्तव्य है, ताकि हम कह सकें, 'इस व्यक्ति ने ईश्वर को देखा है, अतः वह स्पर्श मात्र से हमारा रूपान्तरण कर देने में समर्थ है।' अतः आस्था के इस संकट काल में हमें यह सिद्ध करना होगा कि धर्म अनुभूति की वस्तु है और जो भी व्यक्ति उसके लिए उपयुक्त प्रयास करने को प्रस्तुत है, उसकी उपलब्धि कर सकेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी साधना, ध्यान और अनुभूति के धर्म का अभ्यास किया। उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया, ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति की। एकमात्र इसी प्रकार का धर्म हमें चाहिए। ऐसा धर्म स्वाभाविक रूप से ही हमें सार्वभौमिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह हमारी विचारधारा को किसी विशेष मत अथवा सम्प्रदाय में ही संकुचित नहीं रखता। जो कुछ भी ईश्वरानुभूति में हमारी सहायता करता है, वही ईश्वर की ओर जाने का प्रमाणिक पथ है।. .

धर्म का उद्देश्य है सार्वभौमिकता, समाज कल्याण, धर्मसाधना ओर व्यक्ति का रूपान्तरण। और विवेकानन्द ने अपने महान जीवन में हमें इन्हीं की शिक्षा प्रदान की। ये शिक्षाएँ उपयोगी हैं, प्रामाणिक हैं और आज भी प्रासंगिक हैं। केवल भारत के लोगों को ही इन शिक्षाओं की आवश्यकता हो, ऐसी बात नहीं। आज सम्पूर्ण विश्व ही एक संशय के दौर से गुजर रहा है; सर्वत्र श्रद्धा और सन्देह के बीच, विश्वास और अविश्वास के बीच संघर्ष चल रहा है। वे मानव की आस्था की परीक्षा ले रहे है और यदि हमें वर्तमान संकट से उबर कर जगत् को एक बेहतर स्थान बनाना है तो हमें एक ऐसा धर्म ग्रहण करना चाहिए जो व्यक्तिगत परिवर्तन के द्वारा समाज की कायापलट कर दे।

स्वामी विवेकानन्द इस देश के आदर्शों की प्रतिमूर्ति थे। वे उसकी आध्यात्मिक आकांक्षाओं तथा उनकी परिपूर्ति के प्रतीक थे। यह वही भाव था, जो सन्तों के भजन में, ऋषियों के तत्वज्ञान में और आम जनता की प्रार्थना में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने भारत की चिरन्तन आत्मा को भाषा और वाणी प्रदान की।......

बुद्धदेव के समान ही स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी एक ऐसा क्षण आया था जब वे आन्तरिक जीवन और ध्यान के आनन्द में डूबकर, इस जगत् में वापस न लौटने की सोच रहे थे। परन्तु श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'धिक्कार है तुम्हें! तुम अपनी मुक्ति के लिए क्यों इतने परेशान हो?' शिवं आत्मनि पश्यन्ति न प्रतिमासु— परमात्मा प्रत्येक मानव में विराजित हैं। सभी लोगों को ईश्वर की ही प्रतिमूर्ति मानना चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि उनका नरेन्द्रनाथ नाम केवल संयोग मात्र नहीं था। वे नर के, मानवमात्र के प्रतीक थे। नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये : नारायण ही नरसखा हैं। उन्होंने सभी लोगों की व्यथा का अनुभव किया और वे चाहते थे कि प्रत्येक मानव प्रतिष्ठायुक्त जीवन बिताए। हममें से अधिकांश लोगों का अस्तित्व है, पर जीवन नहीं है। वे चाहते थे कि हममें से प्रत्येक बल, सौंदर्य, शक्ति और सम्मान हासिल करके एक सच्चा मानव बन जाय। हम वैसा हो नहीं सके हैं। उन्होंने हमारे देश के दुःख-दर्द को देखा। उन्होंने दरिद्रता और अनाहार से करोड़ों लोगों को मरते देखकर कहा, 'मैं दरिद्रनारायण का पूजक हूँ, उन नारायण का जो विश्व के सभी गरीब लोगों में विराजमान हैं। जब तक वे लोग मौजूद हैं, मैं भला किस प्रकार अपनी मुक्ति अथवा अपने ही ब्रह्मानन्द में सन्तुष्ट हो सकता हूँ? उन सबकी देखभाल करना मेरा कर्तव्य है। मानव की सेवा ही ईश्वर तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।'

उन्होंने देश भक्ति को एक धर्म के रूप में विकसित किया, परन्तु इसके संकीर्ण शब्दार्थ के रूप में नहीं अपितु देश-भक्ति को उन्होंने मानवजाति के धर्म के रूप में स्वीकार किया। उनके धर्म ने हमें विश्व के समस्त लोगों को एक ही परिवार के आपस में सगे-सम्बन्धियों के रूप में देखने की प्रेरणा प्रदान की। यही था वह

धर्म, जो उन्होंने हमें सिखाया और स्वयं भी अपनाया। उन्होंने इसे एक मनुष्य निर्माण करनेवाला धर्म कहा। यह एक मानवतावादी धर्म है। इसमें साधनामय जीवन तथा समाज सेवा के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। दोनों एक ही भाव की द्विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि हमने परमात्मा को पा लिया है, अपने मन-प्राण में उनकी सत्यता का बोध कर लिया है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम जगत् के समस्त दुःखी-पीड़ितों की सहायता में लग जायें।

यही था वह मानवतावादी और मनुष्य बनाने वाला धर्म जो हमारी युवावस्था में हममें साहस का संचार किया करता था। जब मैं मैट्रिक या ऐसी ही किसी कक्षा का विद्यार्थी था तो हाथों से लिखे हुए स्वामी विवेकानन्द के पत्र हमारे बीच प्रचारित हुआ करते थे। वे रचनाएँ पढ़कर हमें रोमांच हो जाता था, हम पर एक तरह का सम्मोहन हो जाता था, और सर्वत्र समालोचित हो रही हमारी अपनी संस्कृति के प्रति हममें एक तरह की निष्ठा का उदय होता था। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के युवा समाज में उनकी रचनाएँ इसी प्रकार का रूपान्तरण ला देती थीं। मद्रास में ऐसा हो रहा था और मुझे सन्देह नहीं कि देश के अन्य अंचलों में भी ऐसा ही हो रहा था।......

आवश्यकता इस बात की है कि ये महापुरुष जिन आदर्शों की प्रतिमूर्ति थे और जो कुछ उन्होंने हमें दिखाया, उन्हें हम स्मरण रखें। और सिर्फ स्मरण नहीं, हमें यह भी समझने का प्रयास करना होगा कि उन्हें हमसे क्या अपेक्षाएँ थीं। हमें उनके उपदेशों को आत्मसात् करना होगा, अपने जीवन में रूपायित करना होगा, ताकि हम उस देश के सच्चे नागरिक बन सकें, जिसने विवेकानन्द को जन्म दिया।

स्वामी गम्भीरानन्द-स्मृति विशेषांक

'विवेक शिखा' के पाठकों, प्रशंसकों एवं ग्राहकों को सूचित करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है कि 'विवेक-शिखा' का जुलाई अंक 'स्वामी गम्भीरानन्द-स्मृति विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें रामकृष्ण मठ एवं मिशन के ग्यारहवें महाध्यक्ष ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी गंभीरानन्दजी महाराज के कुछ महत्वपूर्ण प्रवचनों, निबन्धों एवं पत्रों के साथ उनके ऋतम्भर व्यक्तित्व की झांकी और उनके सम्बन्ध में प्रेरक स्मृतियाँ आदि संकलित रहेंगी। इस विशेषांक के प्रमुख रचनाकार पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज, स्वामी गहनानन्दजी महाराज, स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज, स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज, स्वामी आत्मारामानन्दजी महाराज, स्वामी विमलात्मानन्द जी महाराज, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी महाराज आदि हैं।

यह विशेषांक लगभग ८० पृष्ठों का होगा। स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के श्रद्धालु शिष्यों एवं भक्तों से आग्रह है कि वे अपनी प्रति अग्रिम आरक्षित करवा लें। साथ ही कृपालु पाठकों से आग्रह है कि इस विशेषांक के प्रकाशन के निमित आर्थिक अनुदान अथवा विज्ञापन देकर सहायता करने की कृपा करें।

निवेदक,

सम्पादक, विवेक शिखा

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

साधना की उपलब्धियाँ

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

प्रत्येक साधक के मन में यह प्रश्न कभी न कभी अवश्य उठता है कि आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति का अंकन वह किस प्रकार से करे। वे कौन से मापदंड हैं जिनके द्वारा वह अपने जीवन का अंकन कर सकता है? कुछ लोगों के मन में सम्भवतः यह प्रश्न भी अस्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है कि जिस प्रकार सांसारिक क्रिया कलापों, प्रयत्नों एवं पुरुषार्थों का कोई दृष्ट फल होता है, तथा जिसके लिए सभी लोग प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन का कोई दृष्ट शुभ फल, कोई ठोस उपलब्धि होती है या नहीं? अगर होती है तो वह क्या है?

यह शंका बहुत समीचीन है, एवं जिस प्रकार लक्ष्य के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा इस पथ पर अग्रसर होने के पूर्व आवश्यक है, उसी प्रकार समय समय पर साधक को जो उपलब्धिया होंगी, उनकी जानकारी होना भी आवश्यक है। वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के विषय में प्रचलित-भ्रांत धारणाओं के कारण यह विषय और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। कुछ लोग ज्योति दर्शन, अनाहत ध्वनि श्रवण, कुण्डलिनी जागरण, समाधि, भाव आदि को आध्यात्मिक जीवन का सर्वस्व समझते हैं। अन्य लोग चमत्कारों को महत्व देते हैं। अगर कोई व्यक्ति भजनादि सुनने से विगलित होकर अश्रु विसर्जन करने लगे तो लोग उसे बड़ा भक्त समझने लगते हैं। अथवा कोई किसी शारीरिक संवेदना विशेष को आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड मान बैठता है।

प्रगति के मापदण्ड क्या हैं, इस विषय में प्रवेश करने से पूर्व सर्व प्रथम यह बात समझ लेनी चाहिए कि विभिन्न साधना पद्धतियों में विभिन्न प्रकार के मापदण्डों का वर्णन किया गया है। भक्ति शास्त्र के अनुसार साधना की उपलब्धियों एवं योगशास्त्र की उपलब्धियों में अन्तर है। अतः यहां हम केवल उन्हीं बातों का उल्लेख करेंगे जो सभी मार्गों में समान हैं तथा जिन्हें असंदिग्ध रूप से अनुभूति या उपलब्धि माना जा सकता है।

उन्नत चरित्र का विकास :—

सर्व प्रथम तो यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि साधना में चमत्कार से कहीं अधिक चरित्र का महत्व है। यदि यह कहा जाय कि चमत्कार का आध्यात्मिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः साधक को चमत्कारों से दूर रहना चाहिए। वह न तो किसी अलौकिक चामत्कारिक विषय या शक्ति की कामना करे और न उन्हें किसी और में देखकर उस ओर आकर्षित होवे। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ, श्रेष्ठ भक्त अथवा गुणातीत व्यक्ति के लक्षण ही उसके श्रेष्ठतम मापदण्ड होने चाहिए। अगर वह सुख दुःखादि द्वन्द्वों में समत्व, इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीन, जगत् के प्राणियों के प्रति मैत्री एवं करुणाभावापन्न एवं भगवत परायण हो रहा है, तो निश्चय ही वह सही पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतः साधक को गीतादि शास्त्रों के इन प्रसंगों का नियमित पाठ कर तदनुरूप अग्रसर होने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग के बहिरंगों में प्रतिष्ठा के परिणाम :—

पातंजल योग सूत्र में वर्णित अष्टांग योग के प्रथम पाँच अंग बहिरंग योग कहलाते हैं। वे हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार। इनमें से प्रत्येक के अभ्यास एवं उनमें प्रतिष्ठित होने के कुछ परिणाम होते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि विशेष के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यथा—

अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर उस सन्त के सान्निध्य में सभी प्राणी अपना परस्पर वैर भाव त्याग देते हैं। सत्य में प्रतिष्ठित होने पर ऐसे योगी का वचन सदा सत्य होता है। सत्य प्रतिष्ठ व्यक्ति का वाक्य अमोघ हो जाता है।

अस्तेय में प्रतिष्ठित होने पर सर्व रत्न उपस्थित हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर वीर्य लाभ एवं अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। अपरिग्रह में प्रतिष्ठित होने पर पूर्वापर जन्मों का ज्ञान होता है।

अहिंसादि पांचों में प्रतिष्ठा की तरह शौचादि यमों में प्रतिष्ठा से भी कुछ सिद्धियां विशेष होती हैं। यथा शौच में प्रतिष्ठा होने से अपने शरीर से घृणा एवं पर के साथ असंसर्ग की वृत्ति सिद्ध होती है। इसके साथ ही सत्वशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की निर्मलता, सौमनस्क, एकाग्रता इन्द्रियजयत्व तथा आत्म दर्शन की योग्यता आन्तरिक शुद्धि का परिणाम हैं।

सन्तोष नामक नियम में प्रतिष्ठित होने पर अनुत्तम सुख लाभ होता है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम।
तृष्णाक्षय सुखस्तैये नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।

तप में प्रतिष्ठा होने पर कार्य-सिद्धि अर्थात् अणिमादि सिद्धियां तथा इन्द्रिय सिद्धि अर्थात् दूर से श्रवण दर्शनादि की सिद्धि होती है। स्वाध्याय से देवता, ऋषि एवं सिद्धों का दर्शन होता है ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है—

धारणा, ध्यान, समाधि में सिद्धि का फल :—

धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अन्तरंग योगांग कहलाते हैं। इन तीनों को सम्मिलित रूप से संयम शब्द से अभिहित किया जाता है। विभिन्न विषयों पर संयम करने के भिन्न भिन्न परिणामों का विस्तृत वर्णन पातंजल योग सूत्र के विभूतिपाद नामक तृतीय अध्याय में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए हस्ति आदि के बल पर संयम करने से हस्ति का बल प्राप्त हो जाता है। सूर्य पर संयम करने से सप्त भुवनों का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप पर संयम करने से क्षुधा एवं पिपासा से निवृत्ति हो जाती है। इस तरह पर-शरीर प्रवेश, दूरदर्शन, दूरश्रवण, अणिमा लघिमा आदि अनेक योगज सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। लेकिन ये वस्तुतः साधना के उपसर्ग ही होते हैं तथा सच्चा साधक इनके लिए प्रयत्न नहीं करता है, और इनके हठात् प्राप्त होने पर इनकी उपेक्षा ही करता है।

ऊपर वर्णित उपलब्धियों के अतिरिक्त साधना के विभिन्न अंगों का अभ्यास करने से साधक के व्यक्तित्व में कई महत्व पूर्ण परिवर्तन होते हैं, जिनका उल्लेख पातंजल योग सूत्रों में यत्र तत्र प्राप्त होता है। साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण इन परिणामों को भली भांति समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रथम पाद में ईश्वर के वाच्य प्रणव के जपरूप ईश्वर प्रणिधान के परिणाम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जपों से प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति एवं अंतराय का नाश होता है। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१:२९) प्रथम अध्याय में ही मैत्र्यादि भावनाओं के परिणाम चित्त प्रसाद का वर्णन है (१:३३) उसी अध्याय में सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थों में एकाग्र मन के वशीकरण का उल्लेख है। (१:४०) ऐसे वशीकृत अथवा स्थितिप्राप्त चित्त की, जिस किसी विषय पर एकाग्रता होती है उसके साथ तज्जन्यता रूप समापत्ति होती है। (१:४१) ऐसे एकाग्र या समाहित चित्त में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, वह ऋतंभरा प्रज्ञा कहलाती है (१:४८) इसी सन्दर्भ में तीसरे अध्याय में कहा गया है कि संयम में प्रतिष्ठित होने पर प्रज्ञालोक होता है। (३१:·) सारांश यह है कि साधना के फलस्वरूप (१) प्रत्यग् चेतन अधिगम (२) चित्तप्रसाद (३) समापत्ति एवं (४) प्रज्ञालोक प्राप्त होता है। योग की परिभाषा में इन सभी शब्दों के विशिष्ट अर्थ होते हैं। इनके अध्ययन के माध्यम से साधना के परिणाम स्वरूप

उपलब्ध महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को समझना हमारा उद्देश्य है ।

(१) प्रत्यग्-चेतन-अधिगम :—

टीकाकारों ने प्रत्यग् चेतन का अर्थ आत्मा से किया है तथा उसकी अनुभूति ही प्रत्यग् चेतन अधिगम का अर्थ होता है । लेकिन कुछ अन्य व्याख्याताओं ने इसका मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाकर चित्त की अन्तर्मुखी वृत्ति को प्रत्यग् कहा है । वस्तुत: इन दोनों अर्थों में सम्बन्ध है, क्योंकि बिना अन्तर्मुखी हुए प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता । मानव की इन्द्रियाँ एवं मन स्वभाव से ही बहिर्मुखी हैं । उपनिषद् कहते है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो उनकी हत्या कर दी । इन्द्रियों का बहिर्मुखी होना, उनका बाह्य वियों की ओर सदा धावित होते रहना, मानों उनके लिए मृत्यु तुल्य है । अन्तरात्मा को देखने के लिए आवृत्त-चक्षु होना होगा ।

> पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू ।
> तस्मात्पराऽपश्यति नान्तरात्मा ॥
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् ।
> आवृत्त चक्षुः अमृतत्वमिच्छन् ॥
> (कठोपनिषद् २:१:१)

यह आवृत्त-चक्षु होना ही प्रत्यग् चेतन अधिगम है । गीता में इसी को समझाने के लिए कछुए का उदाहरण दिया गया है ।

> यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

वस्तुत: इन्द्रियों का भीतर की ओर आहरण केवल इन्द्रियों का ही नहीं होता, समस्त मन का होता है । ऐसे अन्तर्मुखी व्यक्ति का मन मानो उस पक्षी के मन की तरह होता है जो अर्ध निमीलित नेत्रों से अपने अण्डे पर निविष्ट होकर उसे सेता हुआ बैठा रहता है । ऐसा व्यक्ति बाहर देखते हुए भी नहीं देखता । उसके नेत्र बाह्य विषयों पर पड़ते हुए भी उनके पीछे सदा विद्यमान परमात्म सत्ता को देखते रहते हैं ।

अन्तर्मुखी अथवा प्रत्यग्चेतनाभिमुख मन स्वभावत: एकाग्र होता है । प्रकाश की किरणें जब Convergent केन्द्राभिमुखी होती हैं तब वे एकाग्र होती हैं । केन्द्र से दूर जाने वाली divergent rays, स्पष्टत: अधिक बिखरी रहती हैं । मन की भी ठीक यही स्थिति है । बहिर्मुखी मन बिखरा, बहुशाखा एवं अव्यवसायात्मिक होता है, जब कि अन्तर्मुखी मन एकाग्र एवं व्यवसायात्मिक होता है । सामान्य बहिर्मुखी मन देह एवं इन्द्रियों पर स्थित हो बाह्य विषयों को देखता है, जबकि अन्तर्मुखी मन की स्थिति आत्मा पर होने के कारण वह मन, बुद्धि एवं अहंकार को भी अपने से भिन्न विषय (object, के रूप में, दृश्य के रूप में देख सकता है । अत: वह मन में उठ रहे विचारों, मन के छल आदि को बड़ी आसानी से पकड़ पाता हैं ।

अन्तर्मुखी मन की प्रवृत्ति, मूल कारण की खोज की ओर होती है, जब कि बहिर्मुखी मन कार्य के विस्तार की ओर बढ़ता है । अन्तर्मुखी मन सामान्यीकरक होता है, जबकि बहिर्मुखी मन विशेषीकरण को जन्म देता है । इन दो मनोवृत्तियों, प्रत्यगचेतन एवं पराङ्-चेतन के परिणाम आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भी देखे जाते हैं । बहिर्मुखी वृत्ति से प्रेरित हो व्यक्ति नाना तीर्थों का भ्रमण, अनेक शास्त्रों का पाठ एवं भगवान की नाना लीलाओं के चिन्तन में अधिक आनन्द अनुभव करता है । अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति एक ही स्थान पर बैठकर ग्रन्थ के एक अध्याय या एक श्लोक के अर्थ पर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि वेदों का लय गायत्री में, और गायत्री का लय ओंकार में होता है । प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि वेदों में ओंकार का विस्तार मात्र है । अन्तर्मुखी मन की प्रवृत्ति वेद से ओंकार की ओर और बहिर्मुखी मन की प्रवृत्ति ओंकार से वेद की ओर होती है । अन्तर्मुखी मन प्रभु के ध्यान में निमग्न रहना चाहता है । बहिर्मुखी मन प्रभु का कार्य करना चाहता है । अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला

वैज्ञानिक मौलिक आविष्कारों में लगा रहता हैं, तो बहिर्मुखी व्यक्ति आविष्कारों के व्यावहारिक उपयोग की दिशा में कार्य करता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने ही विचारों में खोये रहते है। वे समाज से दूर, एकान्त में, अनमने से बने रहते है। इस प्रकार की अस्वस्थ मनःस्थिति को वास्तविक अन्तर्मुखीनता नहीं समझना चाहिए। यह तो मन का एक प्रकार का विकार है। इसमें व्यक्ति का मन न तो एकाग्र होता है और न ही आत्मानुसन्धान कर पाता है। वह उतना ही विक्षिप्त, और बहिर्मुखी होता है, जितना अन्य कोई व्यक्ति। केवल उसका बहि-प्रकाश नहीं होता। साधक को इस प्रकार की अस्वस्थ मनःस्थिति से सावधान रहना चाहिए।

२. चित्त प्रसाद :

चित्त की स्वाभाविक, सर्वदा, प्रसन्नावस्था साधना की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। मैत्री करुणा आदि भावना चतुष्टय के अभ्यास से, तथा सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर साधक एक आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव करता है जो निर्मल, पापरहित चित्त का लक्षण है। प्रसाद, परम प्रशान्ति, तृप्ति का भाव तथा उत्कृष्ट हर्ष को शंकराचार्य ने विवेक चूड़ामणि में विशुद्ध सत्त्व गुण के लक्षण बताया है (श्लोक ११८)। स्वयं भगवान गीता में कहते हैं कि रागद्वेष से रहित संयत मन एवं इन्द्रियों से युक्त व्यक्ति अन्तःकरण के प्रसाद अर्थात् अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त करता है। (२:६४) गीता के अनुसार चित्त की यह प्रसन्नता मानसिक तप भी है तथा भक्ति शास्त्रों में अनवसाद के नाम से जाना जाने वाला यह गुण विशेष भक्ति का एक साधन विशेष भी है—वासनाओं के क्षीण होने पर स्वभावतः ही मन शान्त व प्रसन्न हो जाता है। और इस तरह प्राप्त चित्त प्रसाद की तुलना में विषय सुख स्वयं साधक को नगण्य लगने लगते हैं। गीता में सात्विक सुख को प्रारम्भ में इन्द्रिय एवं मन के निग्रह के कारण विष-सम किन्तु परिणाम में अमृतोपम एवं मन एवं बुद्धि का प्रसाद उत्पन्न करने वाला कहा है। यों तो विषयेन्द्रिय संयोग से भी सुख मिलता है, लेकिन वह परिणाम में दुःख एवं अनर्थ कारक होता है। इसी तरह निद्रा एवं आलस्य भी सुख दे सकते हैं लेकिन इन्हें प्रसाद की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। ब्रह्मानन्द अथवा चरम उपलब्धि से भिन्न होते हुए भी सात्विक चित्त प्रसाद एक वांछनीय उपलब्धि है। लेकिन साधक को इसी में अटके नहीं रहना चाहिए।

कुछ कृत्रिम प्रशान्त मनःस्थितियाँ और भी अनेक कारणों से हो सकती हैं। जब शरीर स्वस्थ, पेट हल्का और मौसम सुहावना होता है, तब कुछ समय के लिए मन प्रसन्न हो जाता है। यदि धन-संपत्ति पर्याप्त मात्रा में हो एवं सांसारिक सुरक्षा की गारन्टी हो तो भी लोग शान्त, सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहेंगे। कुछ लोग अधिक धनी न हों, पर यदि उन्हें प्रतिष्ठा एवं लोगों द्वारा सम्मान प्राप्त हो तो वे उससे ही सुखी रहेंगे। इस प्रकार की शान्ति की अवस्था को वास्तविक आध्यात्मिक मान बैठना असंभव नहीं है, विशेष कर ऐसे व्यक्ति के लिए जो थोड़ी बहुत साधना भी करता है तथा ध्यान में भी रुचि रखता हो। ऐसे में प्रायः यह समझ पाना कि हम परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर आश्रित हैं, संभव नहीं होता। साधक अपने मानसिक छल को नहीं देख पाता।

सांसारिक सुख-संपद एवं परिवार-स्वजन को त्याग कर केवल विशुद्ध साधनामय जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को भी इस प्रकार के झूठे प्रसाद का अनुभव हो सकता है। साधक समान्यतः अपने दोषों के प्रति अत्यन्त सजग होता है, एवं जब कभी उससे जाने अनजाने कोई कुकर्म होता है, तो वह अनुतप्त होता है। ये अनुताप अत्यन्त शुभ लक्षण हैं, लेकिन इनसे साधक की शान्ति नष्ट हो जाती है। पर यदि कोई व्यक्ति अपने बुरे कार्यों अथवा विचारों की उपेक्षा करता जाये, तो अन्त में वह उनके प्रति संवेदना शून्य हो जायेगा। न तो उसकी अन्तरात्मा उसे कोसेगी और न वह अपने

किये के कारण अशान्त होगा। वस्तुतः इस प्रकार की प्रशान्ति एक अत्यन्त भयावह स्थिति है। यह अधः पतन है, अध्यात्म प्रसाद नहीं। वास्तविक प्रसाद तो तीव्र व्याकुलता एवं वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष के बाद आती है।

अन्य साधकों के जीवन में प्रसाद तो नहीं होता लेकिन वे थोड़े नाम-यश अथवा प्रशंसा के उत्सुक होते हैं। लोग उन्हें सन्त समझते हैं, यह भाव ही उनको सन्तोष दिलाने के लिए पर्याप्त है। एक तीसरे प्रकार के साधक लोक स्तुति अथवा निन्दा की परवाह नहीं करते, लेकिन स्वयं के मत, सिद्धांत एवं कार्य प्रणाली को पकड़े रहते हैं। उनके मत के विरुद्ध बात वे सहन नहीं कर सकते। इन लोगों की प्रशान्ति स्वयं के अहंकार पर आधारित रहती है। सांसारिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में अपनी उपलब्धियाँ ही उनके प्रसाद का कारण होती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी प्रशान्ति सत्य की उपलब्धि नहीं मानी जा सकती।

समापत्ति :—

यह योग दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। योगी का एकाग्र, शुद्ध-सत्वचित्त जब जिस विषय का चिन्तन करता है, तब उस विषय विशेष के साथ एक-रूप हो जाता है, उसकी उस विषय के साथ तदजन्यता, अथवा अनुरंजित होने की स्थिति समापत्ति कहलाती है। इसे समझाने के लिए पतंजलि ने एक स्फटिक पत्थर का उदाहरण दिया है। जब स्फटिक को किसी लाल रंग के पुष्प के निकट रखा जाता है, तो वह लाल रंग का दिखाई देने लगता है। साधना द्वारा शुद्धीकृत एकाग्र मन भी ध्यान के समय ध्यान के विषय के साथ एक-रूप हो जाता है। वासनाओं द्वारा चंचल, अथवा राग-द्वेष, आसक्तियों एवं पूर्वाग्रहों द्वारा प्रभावित मन में यह क्षमता संभव नहीं है. क्योंकि राग द्वेषों का वेग और खिचाव उसे विषय विशेष के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं करने देता। सामान्य व्यक्तियों का मन अपनी रुचि के किसी एक विषय विशेष के साथ एकाकार तो हो सकता है, पर सभी विषयों के साथ नहीं। लेकिन भगवत्-चिन्तन करने वाले योगी का मन परिशुद्ध होने पर किसी भी विषय पर उसी प्रकार लगाया जा सकता है जैसे गीली मिट्टी का एक लोंदा किसी भी सतह पर आसानी से चिपकाया अथवा वहां से हटाया जा सकता है।

स्फटिक के उदाहरण के माध्यम से एक और बात की ओर इंगित किया गया है। स्फटिक के भीतर अथवा उसकी सतह पर कोई बारीक सा धूलि-कण भी क्यों न हों वह तत्काल दिखाई देगा। यह बात एक अपारदर्शी ठोस भूरे या काले रंग के पत्थर में संभव नहीं है। योगी का मन स्फटिक की तरह पारदर्शी होने के कारण उसमें उठने वाला छोटा सा विचार, इच्छा अथवा वासना की एक अस्पष्ट रेखा भी स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाती हैं। योगी अपनी वासनाओं को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में पकड़ने में समर्थ होता है तब उन्हें दूर करना भी आसान होता है। सामान्यतः हम अपने क्रोध, लोभ, काम आदि दुर्गुणों को उस समय समझ पाते है, जब वे विकराल रूप धारण कर बाहर प्रकट हो जाते हैं। लेकिन तब हम पूरी तरह से उनके वशीभूत हो जाने के कारण उन पर नियंत्रण रखने में असमर्थ रहते हैं। यही नहीं, कभी कभी तो इनके प्रभाव के क्षीण होने के बाद ही हम यह समझ पाते हैं कि हम कुछ समय पूर्व उनके अधीन थे। और तब हम अनुतप्त होते हैं। लेकिन साधना के द्वारा हम उन्हें इनके सूक्ष्म रूप में मन में एक संक्षिप्त स्पष्ट रेखा मात्र के रूप में उदित होते ही देख पाते हैं। तब उन्हें दूर करना आसान होता है।

ऋतंभरा प्रज्ञा या प्रज्ञा आलोक :—

साधना की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है प्रज्ञा। सामान्यतः हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा अथवा इन्द्रिय जन्य ज्ञान पर आधारित अनुमान की सहायता से ज्ञानार्जन करते हैं। इन उपायों से न जाने जानेवाले विषयों का परोक्ष ज्ञान हमें शास्त्रों के माध्यम से होता है।

लेकिन इस तरह का ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता। शास्त्र श्रवणादि से यदि हम जान लें कि आत्मा बुद्धि से पृथक है, आत्मासाक्षात्कार से दुःख निवृत्ति हो जाती है, इत्यादि तो भी इतने मात्र से हमारे दुखों का नाश नहीं हो जाता। लेकिन "मैं शरीर नहीं हूँ" बाह्य विषय दुःखमय तथा त्याज्य है, इत्यादि की भावना बार-बार करने पर यह बात जब मन में पूरी तरह बैठ जाती है, तब साधक शरीर के दुख कष्ट से विचलित नहीं होता। तब उसका ज्ञान ठीक सत्य ज्ञान कहा जा सकता है। जैसा श्री रामकृष्ण कहा करते थे—दूध के बारे में सुनने से उसके बारे में एक प्रकार का ज्ञान होता है, दूध देखने से दूसरे प्रकार का, लेकिन दूध पीकर उससे शरीर को पुष्ट करने पर जो ज्ञान होता है वह बिलकुल भिन्न ही होता है। आध्यात्मिक सत्यों के वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति की क्षमता प्रज्ञा है। इसे शब्दों द्वारा समझाना कठिन है।

प्रज्ञा के लिए अंग्रेजी का शब्द Intution प्रयुक्त होता है। कभी-कभी इसे Sixth Sense भी कहा जाता है। कुत्ते बिल्ली आदि जानवरों में तथा कुछ पक्षियों में ऐसी क्षमताएँ होती हैं जिनसे वे विपत्तियों का पूर्वाभास पा जाते हैं, तथा तदनुरूप, समय रहते ही अपनी रक्षा का उपाय खोज निकालते हैं। तूफान आने के सात-आठ दिन पूर्व ही कुछ पक्षी उसका संकेत पाकर वह स्थान त्याग कर विपरीत दिशा में चले जाते हैं। ये क्षमताएं एक प्रकार की प्रज्ञाएं कही जा सकती हैं। लेकिन इसका सम्बन्ध प्राणी के अस्तित्व एवं सुरक्षा से है। पशु पक्षी स्वचलित क्रियाओं (Instincts) से परिचालित होते हैं और उनमें विकसित ये विशेष क्षमताएं मौलिक Instincts से ही सम्बन्धित होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की क्षमता विशेष का विकास अपने-अपने क्षेत्र विशेष में कर सकता है। उदाहरण के लिए एक चिकित्सक दीर्घ काल के अभ्यास एवं व्यवसाय के फलस्वरूप किसी रोगी को दूर से देखकर, उसके घर के परिवेश, व्यवहार, अथवा बातचीत आदि से ही रोग का सही निदान करने की स्वाभाविक क्षमता अर्जित कर सकता है, जिसके विषय में कोई शास्त्रीय व्याख्या सम्भव न हो। जब ऐसी बात योग एवं अध्यात्म के सम्बन्ध में होती है तो उसे ऋतंभरा प्रज्ञा कहते हैं। योगाभ्यास के फलस्वरूप साधक आध्यात्मिक सत्यों को अनायास समझने की इस क्षमता का अर्जन करने में समर्थ होता है।

कृष्णमयी मीरा

—स्वामी वागीश्वरानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

भूमिका :

कृष्णप्राणा, कृष्णैकजीविता, कृष्णमयी मीरा का जीवन मानो भक्तिरस की विशाल सरिता है जिसका उद्गम दिव्य प्रेम से हुआ, जिसकी पुष्टि दिव्य प्रेम से हुई और जिसका पर्यवसान भी दिव्य प्रेम में ही हुआ। दिव्य प्रेम—भक्तिरस—की यह अखंड स्रोतस्विनी रास्ते के प्रवल से प्रवल बांधाविघ्नों से न हारती हुई किस प्रकार तीव्रता के साथ उस प्रेमामृत के असीम सागर में जा समायी— —यही हमें देखना है।

राजघराने में जन्मी और ब्याही गयी, महलों में पली यह कुलललना लोकलाज, भय, कुल, शील आदि की तनिक भी परवाह न करती हुई अपने प्रियतम गिरधर-नागर के प्रेम में दीवानी बन गयी—उसी में चिरविलीन हो गयी! अपने भक्तिरसपूर्ण, भावमधुर गीतों के लिए मीरा भारत के जनमानस में सदा के लिए अमर बनी हुई है।

मीरा की जीवनी के बारे में विभिन्न विद्वानों के मतों में काफी अनिश्चितता और विरोध है। इसमें

दंतकथाओं और अतिरंजनाओं का भी पर्याप्त मिश्रण है पर हमें मीरा की जीवनी का ऐतिहासिक गवेषणा की दृष्टि से विचार नहीं करना है। हमें तो उस भक्तिसरिता में अवगाहन कर भक्तिवारि का पान करके शीतल होना है, तृप्त होना है। फिर भी हम इतिहास द्वारा अप्रमाणित घटनाओं को नहीं लेंगे।

सौभाग्यवश मीराबाई ने स्वरचित गीतों में स्थान स्थान पर अपने बाह्य एवं आंतर जीवन की विभिन्न घटनाओं और अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण किया है—इन्हीं गीतों के आधार पर हम इस महन्मंगल जीवन का अनुशीलन करेंगे।

प्रचलित विश्वास है कि मीराबाई व्रजधाम की प्रेमोन्मादिनी गोपिका थी जो पुनः दिव्य प्रेम की महिमा प्रकट करने धरा धाम में अवतीर्ण हुई थी। मीरा के जीवन का यथार्थ रीति से अवलोकन करने पर इस विषय में कोई संशय नहीं रह जाता।

शास्त्रों में तो कहा ही है—नित्यसिद्धों का एक वर्ग होता है जो स्वयंपूर्ण आत्माराम होते हुए भी लोककल्याण के लिए बारंबार संसार में अवतीर्ण होकर ज्ञानभक्ति का आदर्श दिखाया करते हैं। मीराबाई भी इसी श्रेणी की थीं।

और इस बार की प्रेमलीला तो और भी विलक्षण थी। इस लीला में वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण स्थूल देह में विद्यमान नहीं थे, पर मीरा ने अपने तीव्र, प्रबल प्रेम की आकर्षणशक्ति से उन्हें प्रकट होने को बाध्य किया—'चिन्मय धाम, चिन्मय नाम, चिन्मय श्याम' तत्त्व की सत्यता प्रमाणित कर दिखायी।

वैष्णव भक्तिग्रंथ 'भक्तमाल' में नाभाजीदास मीरा के बारे में कहते हैं —

लोकलाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी॥
सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टन दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिन लजी।
लोकलाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

जन्म एवं बाल्यकाल

जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी के पुत्र दूदाजी शूरवीर और भक्तिमान राणा थे! इन्हीं के पुत्र रतन सिंह की कन्या के रूप में मीरा अवतीर्ण हुई। उसका जन्म जोधपुर के निकट कुड़की ग्राम में १५०३ ई० के आसपास हुआ। राजपुताना की वीरप्रसविनी भूमि में, शूरवीर राजपूत राणाओं के वंश में जन्मी इस बाला ने अपने संपूर्ण जीवन में आदि से अंत तक असाधारण शूरत्व और साहस का परिचय दिया।

पूर्व पूर्व जन्मों के शुभसंस्कारवश इस बालिका के हृदय में बालपन में ही कृष्णप्रेम का बीज अंकुरित हो चुका था। यह कोई सामान्य बात नहीं है—

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

जो महान होता है उसके बाल्य जीवन में ही उसकी भावी महानता की सूचना मिल जाया करती है। बालिका मीरा के जीवन में भी हमें यह इंगित मिलता है—

मीरा जब पांच वर्ष की थी उस समय एक दिन पड़ोस में किसी कन्या का विवाह हुआ। धूमधाम के साथ बारात आयी – दुलहा आया—आनंद मनाया गया। इस आनंद-उत्सव को देख मीरा ने अपनी माता से पूछा, 'माँ, मेरा दूल्हा कहाँ है?' अबोध बालिका के सरल प्रश्न पर हँसकर माता ने पूजागृह में विराजमान गिरधर की मूर्ति की ओर अंगुलि दिखाते हुए कहा, 'बेटी, यह रहा तेरा दूल्हा।'

परन्तु हँसी में कहे माता के ये शब्द बालिका के हृदय के स्तरों को भेदते हुए अंतस्तल के गभीरतम प्रदेश में जा बैठे। उसका पूरा व्यक्तित्व मानो भीतर से आन्दोलित हो उठा। इन शब्दों के आघात से मानो उसकी

हृदयवीणा झंकृत हो उठी। वहाँ एक ही समय आनंद और दुःख उभय भावनाएँ जाग उठीं और एक अनोखी अननुभूत अनुभूति से बालिका अभिभूत हो गयी। उस बिछुड़े प्रियतम श्यामसुन्दर के दर्शन के लिए बालिका के कोमल प्राण व्याकुल हो उठे।

वैष्णव भक्त कवि चण्डीदास की पदावली में श्रीमती राधा कहती हैं—

(हे) सखि के बा शुनाइलो श्यामनाम।
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो,
आकुल करिलो मोर प्राण॥

—हे सखि, बता किसने मेरे कानों में श्याम-नाम सुनाया? कानों के भीतर से वह मेरे मर्म में जा पैठा और उसने मेरे प्राणों को आकुल-व्याकुल कर दिया।

श्रीकृष्ण की यह मूर्ति बालिका मीरा की एकमात्र प्यारी वस्तु थी। और यह उसे कैसे प्राप्त हुई थी? एक बार उसके यहाँ एक साधु ठहरा जिसकी पूजा में यह मूर्ति थी। बालिका साधु से यह मूर्ति माँगने लगी पर भला साधु अपनी उपास्य मूर्ति कैसे दे देता? बालिका ने खूब हठ किया, तीन दिन कुछ खाया-पिया नहीं। रात्रि मे साधु को स्वप्न में भगवान के दर्शन हुए। आदेश हुआ—'तू भला चाहता हो तो मूर्ति उस बच्ची को दे दे।' साधु ने भोर होते ही मूर्ति बालिका को सौंप दी।

बालिका मीरा इसी मूर्ति में रातदिन रमी रहती। वह उसे नहलाती, वस्त्र पहनाती, पूजती, उसके आगे नाचती-गाती, उससे वार्तालाप करती। यह मूर्ति ही मानो उसकी सखा, सुहृद, सर्वस्व बन गयी थी। मीराबाई ने कहा है—

बालपने से मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूं, लगी लगन बरियाई॥

माता के इस वचन से कि गिरिधर तेरा पति है' बालिका के हृदयपटल पर मानो पूर्व पूर्व जन्मों की स्मृतियाँ जाग उठीं। उसके प्राण बोल उठे—सचमुच ही गिरिधर तेरा जनम-जनम का साथी है, मीत है, तू उसकी जनम-जनम की सहचरी दासी है।

आगे चलकर मीराबाई ने कहा भी है—'मेरे जनम मरण के साथी थाँने नहिं विसरूँ दिनराती।'

'मीरा दासी जनम जनम की पड़ी तिहारे पाय॥'

*

बालिका का यह सहज सरल प्रेम दिनोदिन बढ़ता गया। एकरात को सपने जैसी स्थिति में उसे एक दिव्य अनुभूति हुई: उसने देखा—अनंत-कोटि-ब्रह्मांडनायक, अशेषकल्याणगुणाधार, भुवनसुन्दर भगवान श्रीहरि ने उसका पाणिग्रहण किया है। बालिका उठी तो उसके मन प्राण एक अपूर्व आनंद से ओत प्रोत थे। उस आनंद को व्यक्त करते हुए मीरा कहती है—

माई ह्माँने सुपना माँ परण्या दीनानाथ।
सुपणाँ माँ म्हारा परण गया, पायाँ अचल सुहाग
मीरा रो गिरधर मिल्याँ री, पूरब जनम को भाग॥

*

दिन बीतते गये पाँच वर्ष की आयु में ही बालिका की माता का देहान्त हो गया। पितामह राव दूदाजी ने उसे अपने पास मेड़ते में रख लिया और अपने पौत्र (वीरमदेव के पुत्र) जयमल के साथ उसका प्रेमसहित पालनपोषण करने लगे।

मीरा जब बारह वर्ष की थी तब दूदाजी का देहान्त हो गया। मीरा दिव्य प्रेम की संदेशवाहिका बनकर आयी थी—उसके जीवन में लौकिक प्रेम के लिए स्थान ही कहाँ था? नश्वर, क्षणभंगुर संसार का यथार्थ स्वरूप बालिका के मानस पटल पर अंकित होता गया और उसके पीछे विद्यमान उस अविनाशी, चिरंतन सत्ता के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता गया। उस अविनाशी चिन्मय सत्ता में तन-मन-जीवन समर्पित करते हुए पूर्णतया उसी में विलीन हो जाने के लिए प्राणों की व्याकुलता बढ़ती गयी।—

मीरा के प्रभु हरि अविनाशी तन-मन ताहि पटै रे।

*

बालिका को संसार नहीं सुहाता। खाना-पीना, मौज आनंद, लोकसंग कुछ भी नहीं भाता। मन में सदा एक ही चिंता लगी रहती— उस अविनाशी प्रीतम के दर्शन कैसे हों? प्रभु की प्राप्ति के लिए बालिका छिपकर व्रत-उपवास करने लगी, कठोर तप का आचरण करने लगी। पर भला उस सुकुमार देह को यह कठोरता कैसे सहन होती! देह सूखने लगी। पिता तथा राजपरिवार के अन्य लोग इसे रोग समझ बैठे। वैद्य बुलाया गया। पर वैद्य इस दिव्य योगज व्याधि को क्या समझे? वह दवा देकर चला गया। मीराबाई इस घटना का वर्णन करते हुए कहती है—

नातो नाम को मोसूं (रे) तनक न तोड़्यो जाय
पानां जूं पीली पड़ी रे लोग कहे पिंड रोग।
छाने लांघण मैं कियारे राममिलन के जोग॥
बाबल वैद बुलाइयारे पकड़ दिखाई म्हारी बांह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणे कसक कलेजे मांह॥
जा वैदा घर आपणें रे, म्हारो नाव न लेय।
म्है तो दासी विरह की रे तू काहेकू औषध देय॥

विवाह

सबने सोचा विवाह हो जाने पर यह सुधर जायगी। राव दूदाजी की मृत्यु के पश्चात् उनके बड़े पुत्र वीरमदेवजी, जो मीरा के पिता रत्न सिंह के बड़े भाई थे, मेड़ता की राजगद्दी पर बैठे। उनका मीरा पर स्नेह था ही। उन्होंने चित्तौड़ के प्रसिद्ध राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र युवराज भोजराज के साथ मीरा का विवाह कर दिया।

अब मीरा तेरह वर्ष की किशोरी थी। वह जानती थी कि उनका यथार्थ विवाह उस अविनाशी वर गिरिधर नागर से हो चुका है—यह विवाह तो एक लौकिक रीति का पालन भर है। मीरा ने कहा ही है—

ऐसे वर को क्या बरूं, जो जनमे और मर जाय।
बर वरिये एक सांवरो (मेरो) चुड़लो अमर हो जाय॥
झूठ सुहाग जगत का री सजनी, होय होय मिट जाती।
मैं तो एक अविनासी बरू जाहे काल न खाती॥

विवाह राजकुलोचित समारोह के साथ, बड़ी घूमधाम से संपन्न हुआ। बालिका वधू निर्लिप्त रह उदास नयनों से सब देखती गयी। पतिगृह जाते समय उसने अपने प्यारे गिरिधरलाल की मूर्ति को साथ लेना नहीं भुलाया—क्योंकि उसके सिवा मीरा का 'अपना' था ही कौन?—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
शंख चक्र गदा पद्म कंठमाल होई॥
तात मात भ्रात बंधु आपना न कोई।
छाड़ि दई कुल की कानि का करिहै कोई॥

गुरुप्राप्ति

कहा जाता है कि विवाह के कुछ पहले या कुछ बाद पीहर में ही मीरा को संत रैदास से राममंत्र मिला था। साधक के जीवन में योग्य समय पर योग्य गुरु का आगमन होना आध्यात्मिक जगत् का नियम ही है। मीरा तो केवल अपने हृदय के एकनिष्ठ अनुराग के बल पर ही साधना किये जा रही थी। गुरु रैदास ने उसे राममंत्र की दीक्षा और भक्तिमार्ग का साधनोपदेश दिया। हर्षोत्फुल्ल मीरा गाती है—

पायो जी म्हें तो रामरतन धन पायो।
वस्तु अमोलिक दी म्हारे सतगुरु कृपा कर अपनायो॥
जनम जनम की पूंजी पाई जग में सभी खोवायो।
खरचे नहीं वाको चोर न लेवें दिन दिन बढ़त सवायो॥
सत की नाव खेवटिया सत्गुरु भवसागर तर आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरख हरख जस गायो॥

मंत्र तो रामनाम था पर इष्ट देव थे गिरिधर नागर। एक ही सत्य, नाम भिन्न। सच्ची साधिका मीरा के मन में कोई दुविधा नहीं हुई। पावन नाम का स्मरण, भजन और प्रेम विभोर हो नृत्य करना, संतों के दर्शनार्थ जाना आदि उसके साधना के अंग बन गये। मन इसी में रमने लगा, ससार के सब संबंध कच्चे धागे की तरह टूट गये। मीरा के भाग जाग उठे - सगे-संबंधियों के

धिक्कारने का उस पर कोई परिणाम् नहीं होता। मीरा कहती है—

कोई कछू कहे मन लागा ॥
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्यूँ सोने में सुहागा।
जनम जनम का सोया मनवा सद्गुरु सब्द सुन जागा ॥
मात पिता सब कुटुंब कबीला टूट गया ज्यूँ तागा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ॥

पतिगृह में

मीरा के पति कुमार भोजराज शूर, वीर, तेजस्वी और सुन्दर युवक थे। उनका हृदय उदार था। मीरा ने अपने इस लौकिक पति से पहले ही बतला दिया कि मेरा यथार्थ विवाह गिरधर से हो चुका है। उदार हृदय कुमार ने मीरा की साधना में कोई बाधा नहीं डाली। किन्तु राणा सांगा की ज्येष्ठ पुत्रवधू होकर मीरा का कुलमर्यादा के विरुद्ध आचरण करना—लोकलाज छोड़कर सन्तों के दर्शनार्थ जाना, भक्ति में मत्त हो सुधबुध खोकर भजन गाना और नाचना राजपरिवार के लोगों को कैसे भा सकता था! यह तो राजघराने का अपमान था। कलंक था। सास, ननद, देवर आदि सभी मीरा को कोसते, उसे इस प्रकार का आचरण करने से निषेध करते, उस पर अनेकों प्रतिबंध लगाते। पर मीरा अपने मार्ग से तनिक न डिगती।

एक दिन तो ननद ऊदाबाई के अधिक निषेध करने पर राज कुलवधू मीरा ने स्पष्ट ही कह दिया—

बरजि मैं काहू कि नाहिं रहूँ।
सुनो री सखी तुम चेतन होय के मन की बात कहूँ ॥
साधसंगति कर हरिसुख लेऊँ जगसूँ दूर रहूँ।
तनधन मेरो सबही जावो भल मेरो सीस लहूँ ॥
मन मेरो लागो सुमिरन सेती सब का मैं बोल सहूँ।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी सतगुरु सरण गहूँ ॥

मीरा की इस ढिठाई पर ऊदाबाई अत्यंत कुपित हो गयी। वह उसे मजा चखाने की ताक में रहने लगी। एक दिन मध्य रात्रि के समय जब मीरा भावविभोर हो अपने कक्ष में अपने प्रीतम गिरधर से प्रेमालाप करने में मग्न थी तब ऊदाबाई कुमार भोजराज को बुला लायी कि भैया, देख लो अपनी रानी का चरित्र। सुनकर क्रोध से कांपते हुए कुंवर ने तलवार खींच ली और मीरा के कक्ष की ओर दौड़े। बाहर से मीरा के मधुर प्रेमालाप सुन वे आपा खो बैठे और कक्ष में प्रवेश कर गरज उठे—'पापिन, बोल तू किससे बात कर रही थी! कहां छुप गया वह चोर।'

मीरा ने शान्त भाव से सिंहासन पर विराजित गिरधर की मूर्ति की ओर अंगुली दिखा दी।

सचमुच ही उससे बड़ा चोर कौन हो सकता है? भक्तसाधक कहता है—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं व्रजांगनानां च दुकूलचौरम्।
श्रीराधिकायाः हृदयस्य चौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥१

१. जो अनेक जन्मों के संचित पापों को चुरा लेता है, जो नवीन भेदों के वर्ण को चुरानेवाला है जो अपने शरणाश्रित जनों का सर्वस्व हरलेता है, उस चोरों के अग्रणी पुरुष को मेरा प्रणाम है।

इतना ही नहीं—

अनेकजन्मार्जित पापचौरं नवाम्बुदस्य पलकान्ति चौरम्।
पादाश्रितानां च समस्त चौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥२

२. जो व्रज का प्रसिद्ध माखनचोर है, गोपियों के वस्त्रों का चोर है, राधिका के हृदय का चोर है, उस चोरों के अग्रणी पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ।

इसी से तो उसे कहते हैं 'हरि'—सर्वस्व हरण करने वाला। भोजराज समझ गये कि इसी चितचोर ने मीरा का सर्वस्व हर लिया है। इससे मीरा के प्रति उनकी श्रद्धा-प्रीति और अधिक बढ़ गयी। उनके स्वयं के जीवन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे छुप छुपकर मीरा के भजन आदि सुनने लगे और घरवालों के विरोध के समय मीरा का पक्ष लेने लगे।

वैधव्य

राणा साँगा के पश्चात् युवराज भोज ही मेवाड़ के अधीश्वर बनते और मीराबाई अधीश्वरी, किन्तु लीलाधर गिरिधर की यह इच्छा नहीं थी कि मीरा का लौकिक जीवन इतना सुखमय हो। अभी उनका विवाह हुए आठ वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे। पिता के विद्यमान रहते ही भोजराज इहलोक से चल बसे।

बीस वर्ष की युवती मीरा विधवा हो गयी। सास, ननद, देवर आदि तो मौका ढूंढ़ ही रहे थे। अवसर देखकर वे मीरा को भोजराज के साथ सती हो जाने के लिए कहने लगे। उस समय राजस्थान में सतीदाहप्रथा प्रचलित थी ही। पर मीरा, जो भलीभांति जानती थी कि उसका सुहाग अचल है, भला क्यों सती होने चली? उसके प्रियतम गिरिधर उसे ऐसा कब करने देते? अमर अविनाशी पति गिरिधर के भरोसे यह वीर ललना बोल उठी—

मीरा लागो रंग हरी।
औरन सब रंग अटक परी।।
चूड़ो म्हारो तिलक अरुमाला सील बरत सिंगारो
और सिंगार म्हारे दाय न आवे यों गुरुग्यान हमारो
कोई निंदो कोई वंदो म्हें तो गुण गोविंद का गास्यां
जिण मारग म्हारा साध पधारे उण मारग म्हे जास्यां
सती न होस्यां गिरधर गास्यां, म्हांरा मत मोहो धननामी
जेठ बहू को नातो न राणाजी हूं सेवक थे स्वामी।।
गिरधर कंत गिरधर धनी म्हारे मात पिता वोई भाई।
थे थारे म्हे म्हारी राणाजी यों कहे मीराबाई।।

क्लेशप्रदान

घरवालों का क्रोध और द्वेष बढ़ता गया। पर मीरा की साधना चलती रही। इधर परिस्थितियां बदलती जा रही थीं। राणा सांगा के साथ बाबर का युद्ध हुआ। उसमें मीरा के पिता रत्नसिंह वीरगति को प्राप्त हुए। शीघ्र ही राणा सांगा की भी मृत्यु हो गयी। भोजराज के भाई रत्नसिंह गद्दी पर बैठे। पर वे भी शीघ्र ही मारे गये। अब मीरा के दूसरे देवर विक्रमाजीत को गद्दी मिली।

विक्रमाजीत अयोग्य शासक था। अपने छिछोरेपन के कारण उसने सब सरदारों को नाराज कर दिया। प्रजा रुष्ट हो गयी। उसने मीराबाई पर भी अत्यधिक अत्याचार करना शुरू किया। महल में साधु संतों का आना बंद करा दिया। मीराबाई के भक्ति विभोर हो नृत्यगीत करने पर वह प्रतिबंध लगाने लगा। पर भला मीरा क्यों मानती! यही तो उसके प्रियतम गिरधर नागर को रिझाने का एकमात्र साधन था। मीरा कहती है—

श्री गिरिधर आगे नाचूंगी।
नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊँ, प्रेमीजन को जांचूंगी।।
प्रेमप्रीति के बांधि घूंघरू सुरत की कहानी काछूंगी।।
लोकलाज कुल की मरयादा यामे एक न राखूंगी।।....

पर विक्रमाजीत कैसे सहन करता कि उसकी निराश्रिता विधवा भावज उसकी आज्ञा का पालन न करे! वह उसे तरह तरह से क्लेश पहुँचाने लगा। उसकी क्रूरता चरम सीमा तक पहुँच गयी। पर प्रभु की दासी मीरा का वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। चरणामृत के नाम से राणा ने विष का प्याला भेजा—मीरा उसे हँसती हुई पी गयी – कुछ नहीं हुआ! उपहार के नाम पर पिटारे में जहरीला नाग बन्द करके भेजा, पर मीरा ने पिटारा खोला तो शालिग्राम् ही पाया! मीरा की सेज के नीचे काँटे बिछा रखे गये पर मीरा के लिए वे फूल बन गये! क्यों न हो?—

जाको राखे साँइया मारि न सकिहै कोय।
बाल न बाँका करि सके, जो जग बैरी होय।।

गिरधर की अगाध महिमा देख मीरा भावविभोर हो जाती है—

मीरा मगन भई हरिके गुण गाय।
सांप पिटारो राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखन लागी सालिगराम गई पाय।।
जहर का प्याला राणा भेजा इम्रत दिया बनाय।
न्हान धोय जब पीवन लागी हो गई अमर अचाय।।
सूली सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुवाय।
साँझ भई मीरा सोवण लागी मानो फूल बिछाय।।

मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे विघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पे बलि जाय ॥

मीरा विवश थी। पर राणा को कौन समझाये कि पूर्वजन्म की प्रीति को छुपाये रखना सम्भव नहीं।

मीरा ने गाया है—

हेली म्हांसू हरि बिन रह्यो न जाय ॥
सासू लड़े ननद म्हारी खीजैं, देवर रह्या रिसाय।
चौकी मेलो म्हारे सजणी ताला धो न जड़ाय॥
पूरब जनम की प्रीति म्हारी कैसे रहै लुकाय।
मीरा के प्रभु गिरधर के विन दूजो न आवे दाय॥

एक ओर ये तीव्र क्लेश थे पर दूसरी ओर समय-समय पर उस लीलामय गिरिधारी की—उस अविनाशी प्रियतम की--क्षणिक झलक भी मिल जाती थी। ऐसे क्षणों में मीरा सब दुःख भूल भाव-मग्न होकर नाचने लगती।—

पग घुंघरु बांध मीरा नाची रे॥
लोग कहै मीरा भई बावरी सास कहे कुलनासी रे॥
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हांसी रे।
मैं तो अपने नारायण की हो गई आरही दासी रे॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे।

परन्तु प्रियतम प्रभु के इन क्षणिक दर्शनों से भला मीरा को कैसे शान्ति मिल सकती थी? वह तो उनका पूर्ण दर्शन चाहती थी—पूर्ण रूप से उनमें विलीन हो जाना चाहती थी। इधर परिस्थिति की प्रतिकूलता से संग्राम करने में उसका कितना समय और शक्ति का व्यर्थ व्यय हो रहा था। भगवद्-आराधना में सदा तल्लीन रहने की तीव्र इच्छा होते हुए भी वह इन संघर्षों के कारण सम्भव नहीं हो पाता। हृदय की व्यथा कोई समझ नहीं पाता था उसे दूर करनेवाले तो एकमात्र श्याम-सुन्दर ही थे। मीरा गाती है—

हे री मैं तो प्रेमदिवानी (मेरा) दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होय।
गगन मंडल पर सेज पिया की किस विध मिलना होय॥
घायल की गति घायल जाने जो कोई घायल होय।
जौहरि की गत जौहरि जाणै की जिण जौहर होय॥
दरद की मारी वन वन डोलूं वैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब वैद सांवलिया होय॥

मीरा के हृदय की वह प्रेम बेल जिसे उसने व्याकुल आंसुओं से सींच-सींचकर बढ़ाया था, उसमें आनंद-फल अब तक नहीं आ रहे थे। वह जान गयी थी कि भक्ति रस के आस्वादन के लिए ही उसका जन्म है—पर संसार के मोहक द्वंद्व उसे अब भी नहीं छोड़ रहे थे।

मीरा आर्त होकर प्रभु से प्रार्थना करती—प्रभु मुझे तार लो, बचा लो, मैं इस संसार की विपरीत धार में कहीं बह न जाऊँ।

(१) अंसुवनजल सींच सींच प्रेमबेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आनंद फल होई॥
आई मैं भगति काज जगत देख मोही।
दासी मीरा गिरधर प्रभु तारो अब मोहीं॥

(२) अब मैं शरण तिहारी जी मोहे राखो कृपानिधान।

मवाड़-त्याग

प्रभु ने मीरा की प्रार्थना सुन परिस्थिति में कुछ परिवर्तन कर दिया।

राणा विक्रमाजीत की कुव्यवस्था के कारण चित्तौड़ बादशाह बहादुरशाह के हाथ चला गया।

चाचा राव वीरमदेव ने मीरा को अपने पास मेड़ता में बुला लिया। राजघराने की मर्यादा का ख्याल करके विक्रमाजीत मीरा को पीहर जाने से रोकना चाहते थे पर मीरा ने साफ कह दिया—

मेरो कोई नहिं रोकनहार मगन होइ मीरा चली।
लाज सरम कुल की मरयादा सिर से दूर करी।
....

तुम जाओ घर राणा अपने मेरी थांरी नाहिं सरी॥

मेड़ता में

चार-पांच वर्ष मीरा मेड़ता में ही रही। चाचा राव वीरमदेव और उनका पुत्र जयमल दोनों मीरा को चाहते

थे। अब लीलामय प्रभु की कृपा से बाह्य परिस्थितियाँ काफी अनुकूल हो गयीं। मीरा की साधना और तीव्र हो गयी।

अनुरागरूपी अरुण का उदय हो चुका था पर अभी भी वह पूर्ण रवि प्रकट नहीं हुआ चाहता था। सागरगामिनी नदी सागर के जितने निकट पहुँचती है उसका वेग उतना ही बढ़ता जाता है। अंतर्यामी प्रियतम के पूर्ण अखंड अविच्छिन्न दर्शन की आतुर उत्कण्ठा में मीरा सदा आकुल-व्याकुल बनी रहती—

प्यारे दरसन दीजो आय। तुम बिन रह्यो न जाय॥
जल बिन कमल चंद बिन रजनी, ऐसे तुम देख्या बिन सजनी
आकुल व्याकुल फिरूँ रैनदिन, विरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख नींद नहीं रैना, मुखसों कथन न आवे बैना
कहा कहूं कछु कहत न आवे मिलकर तपन बुझाय॥
क्यूं तरसाओ अन्तरयामी, आय मिलो किरपाकर स्वामी
मीरा दासी जनम जनम की पड़ी तिहारे पाय॥

भगवद्विरह की इस क्लेशप्रद अवस्था का अनुभव सामान्य मनुष्य के जीवन में नहीं आता। इसका अनुभव कृष्णप्राणा व्रज गोपिकाओं को हुआ था। यह अवस्था चैतन्यदेव के जीवन में दिखाई पड़ती है।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे॥

नारदभक्तिसूत्र में कहा है—

(१) तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता।
(२) गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम् अविच्छिन्नम् सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्॥

प्रभु की राह ताकते हुए नैन दुखने लगे। बेचैन हो मीरा गाती है—

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जबसे तुम बिछुरे मेरे प्रभुजी कबहुं न पायो चैन॥
बिरह विथा कासों कहूं सजनी बह गई करवत ऐन
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुखमेटन सुख देन॥

भगवद्विरह की इस असह्य पीड़ा से कातर हो मीरा यहां तक कह उठती है कि—

जो मैं ऐसा जानती प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती प्रीत करो मत कोय॥

कभी वह प्रभु पर रूठकर उन्हें कठोर कहती, पर साथ ही प्रार्थना भी करती कि नाथ कृपा करके तनिक मेरी ओर देखो, तुम्हारे बिना मेरा कोई नहीं है—

चितवौ जी मोरि ओर, तनक हरि।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर॥
मेरी आसा चितवन तुम्हरी और न दूजी दोर।
तुमसे हमकूँ एक हो जी हमसी लाख करोर॥
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ, अरज करत भयो भोर।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी देखूँ प्राण अँकोर॥

कभी तो मीरा को लगता कि उस जीवन प्राण-आधार प्रभु के दर्शन ही न मिलें तो जीवन रखकर क्या लाभ? वह प्राण त्यागने को तत्पर हो जाती—

'मेरे मन में ऐसी आवे मरूँ जहर बिस खाय'।

या

'लेइ कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात।'

पर भला मीरा आत्महत्या भी कैसे करती?

प्राण तो उसने उसी प्रभु को सौंप दिये थे। अब तो 'तदर्थप्राणसंस्थान' था। अपने प्राणों पर भी अधिकार नहीं रह गया था।

कितनी कष्टप्रद स्थिति है—

मीरा कहे बीति सोइ जाने जिवन-मरण उन हाथ।

सूक्ष्म बाधाएँ

जब साधक के जीवन में अंतिम सिद्धि भगवद्दर्शन की घड़ी अत्यंत निकट आ जाती है उस समय चित्त में माया की कुछ सूक्ष्म तरंगें उठकर बाधाएँ लाती हैं। इन्हें शास्त्रों में लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद आदि नामों से निर्देशित किया गया है।

मीरा को भी इन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा।

एक समय प्रभु पूर्णदर्शन देने आते हैं। पर मीरा का चित्त मानो मोहनिद्रा में आच्छन्न हो जाता है—वह प्रभु को नहीं देख पाती। बड़े दुःख के साथ स्वयं को धिक्कारती हुई वह कहती है –

मैं जाण्यों नहिं प्रभु को मिलण कैसे होय री।
आये मेरे सजणा फिर गये अँगणा
मैं अभागण रही सोय री।।

[कविकुलगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी प्रकार की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

कि घुम तोरे पेयेछिलो हतभागिनी ? से जे काछे एसे वसे छिलो तबू जागि नी ।।]

मीरा निश्चय कर लेती है अब दिनरात जागता पहरा रखूँगी—सदा सजग रहूँगी। प्रभु के आगमन की वाट जोहती हुई वह उनींदी रातें बिताने लगी।

मैं बिरहिन बैठी जगूँ जगत सब सोवे री आली।'
कभी कभी प्रभु के आने की आहट सुनाई देती।

ऐसे समय मीरा के लिए अन्दर-बाहर सर्वत्र आनंद का साम्राज्य छा जाता -

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
महलन चढ़ि जोऊँ मोरि सजनी कब आवे महाराज।।

पर अभी भक्त का 'मैं' पन किंचित् अवशिष्ट रह गया था। भला प्रभु को यह कैसे सहन होता ? 'मैं सदा जागती रहकर प्रभु को प्राप्त करूँगी—इसमें जो 'मैं' है इसे भी वे भक्त सर्वस्वहारी श्रीहरि मिटा देना चाहते थे। इसलिए एक रात प्रभु पूर्णदर्शन देकर इसी क्षण छुप जाते हैं। मीरा कारण समझकर रो उठती है—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी, पल में पिव आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देणकूं, जाग पड़ी, पिव, ढूंढ न पाए।।
और सखी पिव सोय गँवाए, मैं जु सखी पिव जागि गँवाए।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सब सुख होय स्याम घर आए।।

भक्तकल्याणेच्छु भगवान का यह स्वभाव प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भागवत में हम पाते हैं—रासलीला के समय गोपिकाओं के मन में यह भाव उठते ही कि 'हम कितनी सौभाग्य-शालिनी हैं—प्रभु हमारे साथ विहर रहे हैं,' लीलामय प्रभु अन्तर्हित हो जाते हैं। क्यों ?— उनके उस मिथ्या 'अहं', बोध को प्रशमित करने, उन्हें कृपाप्रसाद प्रदान करने—

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशव।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।।

वृन्दावन की ओर

इस प्रकार दीर्घकाल तक लुकी-लुकौवल का खेल खेलने के बाद प्रभु ने जब देखा कि मीरा संपूर्ण रूप से 'अहं-मम' से मुक्त हो उनकी अनन्यशरणागत बन गयी है तो वे उस पर पूर्ण कृपा वरसाने प्रस्तुत हो गये।

वृन्दावनविहारी की शायद यही इच्छा थी कि पूर्व जन्म की इस वियोगिनी गोपी को फिर व्रजधाम में ही दर्शन दिये जाएँ। उन्होंने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर दिया कि मीरा को वृन्दावन आना पड़ा।

१५३८ ई० में राव मालदेवजी ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। उधर विक्रमजीत सिंह को मारकर चित्तौड़ की गद्दी पर बनवीर बैठ गया। दोनों कुलों पर संकट आ जाने से मीरा के लिए यथेच्छ निकल पड़ने का मार्ग खुल गया।

मीरा अपने बहुआकांक्षित व्रजधाम की ओर—बाँकेविहारी की लीलाभूमि की ओर—चल पड़ी। उसका मन आनंद से डोल उठा। हृदय बोल उठा—प्रीतम के चिरमिलन की वह बहुप्रतीक्षित घड़ी अब दूर नहीं रही। हर्ष-विभोर मीरा गा उठी—

चालां वाही देस प्रीतम पावां, चालां वाही देस।
कहो तो कुसूमल साड़ी रँगावां कहो तो भगवा भेस
कहो तो मोतियन मांग भरावां कहो छिटकावां केस ।।

*

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।।
रैन पड़े तब ही उठि आऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके संग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ।।

जो पहिरावें सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ॥
जित बैठावे तितही बैठूँ बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

व्रजधाम में

व्रजधाम में पहुँचकर कृष्णलीला के विभिन्न स्थलों को देखते हुए मीरा की जन्मान्तर की स्मृतियाँ जाग उठीं। 'तदाकार– चित्तवृत्ति' तो हो ही गयी थी। अब यह अत्युज्ज्वल वृत्ति भी परम प्रेम, परा भक्ति की दिव्य प्रभा से उद्‌भासित हो जाए—दीप्त हो जाए—यही आकांक्षा रह गयी थी। परन्तु इस सर्वोच्च वृत्ति का दिव्य दीप्ति में परिणत हो जाना तो पूर्णतः प्रभु की कृपा पर ही निर्भर था। अतः इसके लिए उन्हीं से प्रार्थना करने के सिवा भला कौन उपाय था ?

मीरा अब उस अंतिम सिद्धि के लिए व्याकुल हो प्रार्थना करने लगी—

तुम्हरे कारण सब सुख छोड़्या
अब मोहिं क्यूँ तरसाओ हो।
विरह विथा लागी उर अंतर
सो तुम आय बुझाओ हो॥
अब छोड्या नहिं बने प्रभूजी
हँसकर पास बुलाओ हो।
मीरा दासी जनम जनम की
चित सूँ चित्त लगाओ हो॥

—हे प्रभु, अब और देर न करो। चित्त से चित्त लगा लो। चित्त को अपने में पूर्ण विलीन कर दो।

और अब प्रभु मीरा की कातर पुकार सुन लेते हैं। पूर्णदर्शन देकर उसे धन्य कर देते हैं—कृतकृत्य कर देते हैं। वियोगिनी की वियोगसाधना समाप्त हो जाती है—अब जीवन नित्य लीलायोग के आनंद से ओतप्रोत बन जाता है। पूर्ण बन जाता है। 'मैं-पन' जलकर भस्म हो जाता है—

आत्मज्योति उस परमज्यति में मिल जाती है। मीरा प्रार्थना करती है—हे योगेश्वर, अब कभी तुम्हारा वियोग न हो। मुझे सदा अपने से युक्त रखो। फिर कभी मिथ्या 'मैं' की प्रतीति न उठने पाये। अब क्षण भर के लिए भी मुझे छोड़कर मत जाओ।

जोगी मत जा मत जा मत जा।
पावँ परूँ में तेरी चेरी हो !
प्रेम-भक्ति के पंथ हैं न्यारे हमकूँ गैल बता जा
अगर चंदन की चिता रचाऊँ अपने हाथ जला जा।
जल जल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा॥
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर ज्योत से ज्योत मिला जा॥

अब 'मैंपन' का लेशमात्र नहीं रहा। मीरा पूर्णरूप से कृष्णमयी बन गयी। भीतर-बाहर सर्वत्र हरि का ही अनुभव !

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं
प्रेमगली अति साँकरी तामें दोउ न समाहिं।

जीवन परिपूर्ण हो गया—धन्य हो गया—कृतकृत्य हो गया !

भगवद्दर्शनोत्तर जीवन

पूर्णत्वप्राप्ति के आनंद को व्यक्त करते हुए मीराने कई भावपूर्ण गीत गाये हैं—

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी, सुख पाया, हिल मिल मंगल गाया जी॥
धन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ मेरे आनंद छाया जी।
मगन भई मिल प्रभु अपणा सूँ, मौ का दरद मिटाया जी॥
चंदकूँ निरखि कमोदणि फूलै हरखि भया मेरे काया जी।
रग रग सीतल भइ मेरि सजनी, हरि मेरे महल सिधायाजी॥
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीरा बिरहिणि सीतल होई, दुखदुंद दूर मिटाया जी॥

और प्रभु केवल घर ही नहीं आये—वे तो पूरी तरह मीरा के वश हो गये। मानो मीरा ने अनमोल प्रेम के मोल उन्हें खरीद ही लिया। मीरा गाती है—

माई मैंने गोविंद लीनो मोल।
कोहू कहे छाने कोहे कहे छुपके, लियो बजंता ढोल॥

कोइ कहे कालो कोइ कहे गोरो, लियो मैं अँखियाँ खोल।
कोइ कहे हलको कोइ कहे भारी, लियो तराजू तोल॥
तनका गहणा मैं सब कुछ दीना, दिया बाजूबंद खोल।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, पुरब जनम का कोल॥

अब मीरा आनंदमगन हो सर्वत्र श्रीकृष्णदर्शन करती हुई वृन्दावन में घूमने लगी—प्रभु का लीलागुणगान करती हुई।

चलो मन गंगा जमुना तीर।.....
बंसी बजावत गावत कान्हा संग लिये बलवीर

या

आली म्हांने लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसन गोविंदजी को॥
कुंजन कुंजन फिरती राधिका सबद सुनत मुरली को।

जीवगोस्वामीजी से भेंट

इसी समय किसी दिन मीराबाई चैतन्यदेव की शिष्यपरंपरा के वैष्णव साधकश्रेष्ठ श्री जीवगोस्वामीजी के दर्शनार्थ गयी थीं। परम वैराग्यवान ब्रह्मचारी गोस्वामी जी ने एक स्त्री से मिलना अयोग्य मानकर उस प्रकार का संदेशा भेजा। मठ के बाहर खड़ी मीराबाई ने जब यह संदेशा सुना तो उत्तर में कहला भेजा—'अब तक मैं समझती थी कि वृन्दावन में केवल पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही एक मात्र पुरुष है—और सब उनकी दासियाँ, पर अब देखती हूँ कि उसके अलावा दूसरे पुरुष भी यहाँ हैं।'

मीराबाई का यह उत्तर सुनते ही गोस्वामीजी के हृदय में 'वासुदेवो पुमान् एकः स्त्रीमयम् इतरज्जगत्' वाले सिद्धान्त का यथार्थ तात्पर्य प्रकाशित हुआ और वे व्याकुल होकर मीराबाई से मिलने नंगे पाँव दौड़ आये।

पराभक्ति में दृढ़निष्ठ हो जाने पर 'आत्माराम' भक्त श्रीहरि की भक्ति लेकर ही रहना पसंद करते हैं। वे सेव्य-सेवक भाव लेकर ही रहना चाहते हैं। मीराबाई भी यही प्रार्थना करती हैं—

स्याम मने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ
वृन्दावन की कुंज गलिन में तेरी लीला गासूँ॥
चाकर में दरसन पाऊँ सुमिर पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ तीनों बातां सरसी॥
मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा हृदय धरो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हे प्रेमनदी के तीरा॥

*

जीवनकलिका पूर्णविकसित हो खिल गयी थी। सौरभ दिगदिगंत में व्याप्त होने लगा। सब ओर से मधुलोलुप भ्रमर आ मँडराने लगे। अनेक साधु-सत्पुरुष और साधक मीराबाई के दर्शन और सत्संग के लिए आने लगे।

मथुरा और वृन्दावन में कुछ काल निवास करने के बाद मीरा के प्रभु ने उसे द्वारका जा बसने की प्रेरणा दी। द्वारकाधाम श्रीकृष्ण की अन्त्यलीला का स्थल जो है!

द्वारका में

द्वारका जा मीराबाई रणछोड़जी के मंदिर में भगवद्भजन में मग्न बनी रहने लगीं। उनके पावन जीवन से अनेकों साधकों और संसारियों को मार्गदर्शन मिलता, तृप्ति मिलती।

अब मेवाड़ और मेड़ता की परिस्थितियाँ पुनः बदल गयी थीं। मेड़ता में मीरा के भाई जयमल का और मेवाड़ में देवर उदयसिंह का अधिकार हो चुका था। दोनों राज्यों से मीरा को लौट आने के लिए बारम्बार आमंत्रण आने लगा।

पर अब मीरा प्रभु का अन्त्यलीला धाम द्वारका छोड़कर और कहीं जाना नहीं चाहती थी। जनम-मरण के साथी श्रीहरि के चरणों में अनुरक्त बनी मीरा एक ही जगह रहकर प्रभु का स्मरण करती हुई उनके नित्य दर्शन के सुख में मग्न रहना चाहती थी—

म्हारो जनम मरण को साथी थाने नहिं विसरूँ दिनराती॥
पल पल तेरो रूप निहारूँ निरख निरख सुख पाती॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरिचरणा चित राती॥

अंतिम क्षण

एक दिन मेवाड़ से राणा ने मीराबाई को लौटा लाने के लिए कुछ ब्राह्मणों को भेजा। वे उसे ले जाने के लिए धरना देकर बैठ गये। पर मीरा समझ चुकी थी कि अब उसके जीवन का उद्देश्य सफल हो चुका है। ('आई मैं भगतिकाज') कार्य पूरा हो गया है।

प्रभु का आदेश क्या है जानने के लिए संध्या की नित्य सेवा-पूजा के बाद मीरा ने मंदिर में प्रवेश किया और द्वार बंद कर लिये। बाहर द्वार पर बैठे भक्तों को मीरा की करुण प्रार्थना सुनाई दे रही थी। काफी समय तक प्रार्थना आदि के बाद मीरा शान्त हो गयी।

सवेरे मंदिर खोलकर देखा गया तो मीराबाई प्रियतम गिरधर की मूर्ति में चिरविलीन हो गयी थीं। चिह्नस्वरूप उसकी चुनरी का कुछ अंश गिरधर (रणछोड़ जी) की मूर्ति से बाहर निकला दिखाई दे रहा था।

इस प्रकार कृष्णैकजीविता कृष्णमयी मीरा पूर्णरूप से कृष्ण में खोकर अमर हो गयी।

अंतिम भजन जो उसने गाया वह यह था—

हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर॥
भक्त कारण रूप नरहरि धर्यो आप सरीर।
हरिणकश्यप मार लीन्हों धर्यो नाहिन धीर॥
डूबते गजराज राख्यो कियो बाहर नीर।
दासी मीरा लाल गिरधर दुःख जहाँ तहँ पीर॥

*

कृष्णमयी मीरा और मीरा के प्रभु गिरधर नागर की जय!

★

दारा शिकोह

['दि हेरीटेज' के मार्च १९८९ अंक में प्रकाशित प्रस्तुत रचना हमें रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सहाध्यक्ष एवं रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष पूजनीय श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनुवादक हैं- राजेन्द्र कॉलेज, छपरा के हिन्दी विभाग के आचार्य डॉ० रामानन्द शर्मा।-- सं०]

मुगल सम्राट शाहजहाँ और बेगम मुमताज के ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह का जन्म २० मार्च सन् १६१५ ई० में हुआ था। पिता का प्रियपात्र होने के कारण वह स्वभावतः मुगल राजसिंहासन का उत्तराधिकारी था। तथापि इस विलक्षण और असाधारण राजकुमार को एक सम्राट के रूप में अपने भविष्य की अपेक्षा गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों में अधिक अभिरुचि थी। किन्तु शाहजहाँ की बीमारी के बाद का घटनाचक्र दारा के विरुद्ध औरंगजेब के षडयंत्र एवं युद्धों में दारा की पराजय का इतिहास है। पराजित दारा ने दादर के अफगान अधिकारी जीवन खाँ के घर में शरण ली जिसकी एक समय उसने रक्षा की थी। किन्तु जीवन खाँ ने विश्वासघात किया और दारा को औरंगजेब के निर्मम हाथों में सौंप दिया। औरंगजेब ने इस वन्दी राजकुमार को अपमानित कर दिल्ली की सड़कों पर घुमाया और मुल्लाओं ने उसे स्वधर्म का विरोध करने के अपराध में मौत की सजा दी। ये घटनाएँ जग जाहिर हैं। राजकुमार दारा को ३० अगस्त १६५९ को फाँसी दी गयी और उसका ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान भी कारागार में ही १६६२ ई० में मारा गया।

दारा ने कई पुस्तकों की रचना की तथा उसने उपनिषदों एवं गीता का फारसी में अनुवाद भी किया था। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'समुद्र-संगम' है। इसमें उसने हिन्दू एवं इस्लामी विचारों के सामंजस्य की चेष्टा की है। निम्नलिखित उद्धरण डा० रोमा चौधरी द्वारा संपादित "प्राच्यवाणी-मंदिर" के अंग्रेजी संस्करण (कलकत्ता, १९५४) से ग्रहण किये गये हैं।

"यह सांसारिक आसक्तियों से विरक्त एवं समस्त विषादों से मुक्त फकीर दारा शिकोह की वाणी है। परम सत्य के ज्ञान, ईश्वर की महती कृपा एवं आदर्श अद्वैतवाद के सिद्धान्त के सही अर्थ के सुनिश्चय के उपरान्त ही मैं इस आध्यात्मिक अन्वेषण के मार्ग पर आरूढ़ हुआ हूँ। इस आध्यात्मिक अन्वेषण के मार्ग को मैंने इसलिए ग्रहण किया है जिससे मैं उन वैदिक मनीषियों के विचारों का सही आकलन कर सकूँ जिन्होंने अत्यंत ही प्राचीन काल से परम सत्य के शोध की प्रक्रिया में पूर्णता प्राप्त कर ली है। मैं कई बार अनेक वैदिक विद्वानों एवं विशेषतः अपने गुरु बाबा लाल से मिला और उनसे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा की। मेरे गुरु बाबा लाल ज्ञान एवं बौद्धिक अनुभूति की प्रतिमूर्त्ति हैं और उन्हें सत्य, समाधि, शांति एवं ब्रह्मज्ञान का पूर्ण बोध हो गया है। इन लोगों से चर्चा के दौरान मैंने अनुभव किया कि हिन्दू एवं मुसलमान संतों के सत्यान्वेषण की प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल शब्दों का है।

यही कारण है कि मैंने हिन्दू और मुस्लिम आध्यात्मिक विचारों के समन्वय के इस मार्ग का अनुसरण एवं परम सत्ता के अन्वेषी दोनों ही धर्मों के संतों के विचार-सूत्रों का यह संग्रह किया है। यह दोनों ही धर्मों के सिद्धान्त सागर का--परम ज्ञानियों के विचारों का संचयन है। अतएव, इसे मैंने 'समुद्र-संगम' की संज्ञा दी है।

वस्तुतः सभी महान एवं उत्कृष्ट मानवीय सन्तों का संदेश यही है कि हमें सभी धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों का अनिवार्य रूप से पूर्ण समझदारी के साथ अध्ययन करना चाहिए। पूर्ण सत्य तक पहुँच पाना कितना कठिन कार्य है इसे ज्ञानी और विवेकशील लोग निश्चय ही जानते हैं। अतएव, विवेकशील एवं ज्ञानी व्यक्तियों को इस पुस्तक के अध्ययन से निश्चय ही परम संतोष प्राप्त होगा। किन्तु, हिन्दुत्व और इस्लाम के मौलिक अंतर पर बल देने वाले संकीर्ण मन के व्यक्ति इससे अवश्य ही निराश होंगे। अपनी अंतश्चेतनाके अनुसार परम सत्य के सही अर्थ के परिनिश्चयन एवं बोध के पश्चात् ही मैंने अपने सगे संबंधियों के लाभ के लिए इस रचना का संकल्प लिया है। पर मैं अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए निश्चित विचार रखने वालों के प्रबोधन की कोई आवश्यकता नहीं समझता। दूसरे पवित्रआत्मा ख्वाजा अहरार ने मुझे यह शिक्षा दी है कि "यदि कभी मुझे ऐसे नास्तिक का पता चले जो जीवन्त शब्दों में सत्य का विवेचन करता है तो मैं उसके पास कहीं भी जाऊँगा, उसकी बातें सुनूँगा, उससे शिक्षा प्राप्त करूँगा और उसके साथ आध्यात्मिक चर्चा में भाग लूँगा।" मैं केवल ईश्वर से सारी शक्तियाँ प्राप्त करता हूँ। वे ही मेरे एकमात्र सहायक हैं।

× × ×

यह बात तर्क की तुलना पर सही नहीं उतरती कि ईश्वर परलोक का ही विषय है इस लोक का नहीं। यदि वह सर्वव्यापी है तो वह स्वयं अपनी अनुभूति का विषय है और उसकी अनुभूति कभी, कहीं और किसी भी वस्तु में हो सकती है। जो इस संसार में उसकी अनुभूति नहीं कर सकता उसके लिए परलोक में उसे पाना और भी कठिन होगा।

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक भूखंड, पार्वत्य प्रदेश, महासागर में असंख्य प्राणियों का निवास है। सृष्टि की ये वस्तुएँ ही स्वर्ग एवं नर्क के प्रतीक हैं। हिन्दू संतों ने स्पष्ट कहा है कि स्वर्ग और नर्क इस सृष्टि के बाहर की वस्तुएँ नहीं, इसके भीतर ही हैं। उनका कहना है कि सात महाकाश सात नक्षत्र स्वर्ग के चारों ओर मेखलाकार रूप से नाचते रहते हैं। ये उनसे परे नहीं हैं।

मेरी इच्छा है कि भगवान विष्णु मेरे मस्तिष्क को मन्दराचल बनावें। परस्पर विरोधी तत्वों के रूप में मेरे अनिश्चय और निश्चय रूपी दैत्य और देवता विशाल शास्त्रीय ग्रंथों के समुद्र को मथें। इसी शास्त्रीय मंथन द्वारा धर्मशास्त्रों के मंथन से मैंने जो रत्न निकाले हैं उन्हें देवता और दैत्य भी नहीं पा सके। समुद्र मंथन से तो उन्हें केवल चौदह रत्नों की ही प्राप्ति हुई।

केवल ईश्वर की अराधना एवं उसकी कृपा से ही मुझे इस 'समुद्र-संगम' नामक ग्रंथ—जो दो धर्म-सागरों का सम्मेलन है— के समापन की शक्ति मिली।

*

"सभी धर्म संसार के बाहर जाने का अर्थात् मुक्ति का उपदेश देते हैं। इन सब धर्मों का उद्देश्य संसार और धर्म के बीच सुलह करना नहीं, पर धर्म को अपने आदर्श में दृढ़-प्रतिष्ठित करना है, संसार के साथ सुलह करके उस आदर्श को नीचे लाना नहीं है। प्रत्येक धर्म इसका प्रसार करता है और वेदान्त का कर्तव्य है—विभिन्न धर्मभावों का सामंजस्य स्थापित करना ·····।

—स्वामी विवेकानन्द
(ज्ञानयोग : पृ० ५३२-३३)

विवेक चूड़ामणि

—स्वामी वेदान्तानन्द
अनुवादक—डॉ० आशीष बनर्जी

वस्तु स्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा
स्वेनैव वेद्यं ननु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव
ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ।।५४।।

आत्मा का स्वरूप स्वयं के संशयविपर्यय रहित ज्ञान के द्वारा अनुभव करना होगा। दूसरे के (ज्ञानी गुरु के) जानने से क्या स्वयं की मुक्ति हो सकती है ? (गुरु के ज्ञान के फलस्वरूप शिष्य को स्वरूप का बोध नहीं हो सकता)। चन्द्रमा का स्वरूप जानने के लिए स्वयं के नेत्रों द्वारा देखना होगा। दूसरे अनेक नेत्रों द्वारा देखे जाने पर भी मेरे लिए उसका क्या मूल्य है, जब तक कि मैं अपने नेत्रों द्वारा न देखू ? ५४।

"विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।"
गी, १५/१०

"मूढ़ व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को नहीं जान पाते। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न ज्ञानी ही आत्म स्वरूप का दर्शन करते हैं।"

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ।।५५।।

स्वयं के प्रयत्न के सिवा, अविद्या, कामना और कर्म के बन्धनों से शत कोटि कल्पों में भी कौन मुक्त कर सकता है ? (अर्थात् दूसरा कोई भी मुक्ति देने में समर्थ नहीं है। मुक्ति के लिए स्वयं ही साधना करनी होगी) ।।५५।।

कल्प = ब्रह्म का एक दिन = एक सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक का समय अविद्या अर्थात् हमारे स्वरूप के विषय में अज्ञता से काम की उत्पत्ति एवं काम से कर्म की उत्पत्ति। इन्हीं तीनों के कारण हमें जन्म जन्मान्तर तक दुःख भोगना पड़ता है।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ।।५६।।

अष्टांग योग, प्रकृति पुरुष का तत्वविचार, वैदिक यज्ञादि या दानादि कर्म, शास्त्र पाठ जनित ज्ञान, इन में से एक अथवा सभी के द्वारा मोक्ष लाभ सम्भव नहीं है। मोक्ष लाभ का और कोई उपाय नहीं है। एकमात्र ब्रह्म के साथ आत्मा के अभेद ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।।५६।।

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।।
श्वे, ३/८

"उस आत्मा को जान लेने पर जीव मृत्यु के परे चला जाता है; मृत्यु के परे जाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।"

अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म में ऐकानुभूति के अतिरिक्त मुक्तिलाभ का अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता।

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादन सौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ।।५७।।

जिस प्रकार वीणा की सुन्दरता तथा उसको बजाने का सुन्दर ढंग श्रोताओं के आनन्द का ही कारण होता है। उससे कोई साम्राज्य लाभ नहीं होता ।।५७।।

अनेक पुण्यकर्म एवं बाहादुरी आदि सद्गुण होने पर सम्भव है। ब्रह्मानुभूति भी इसी प्रकार बहुत साधना के फलस्वरूप मिलती है। आसानी से नहीं मिलती। यहाँ साम्राज्य लाभ से मोक्ष प्राप्ति की तुलना की गयी है।

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ।।५८।।

भाषा पर अधिकार, शब्द प्रयोग में निपुणता, शास्त्र-व्याख्यान में कुशलता और काव्य-अलंकारादि में पांडित्य, विद्वानों की भोग-वस्तु की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। परन्तु मुक्ति-लाभ में कोई सहायता नहीं कर सकता ।।५८।।

वाक्य चार प्रकार के होते हैं - परा, पश्यन्ति, मध्यमा एवं वैखरी। वह स्थूल वाक्य जिसे मनुष्य ऊँची आवाज में तत्परता से उच्चारण करता है एवं जो सभी को सुनाई देता है उसे वैखरी कहते हैं। सुवक्ता इस प्रकारके वाक्यजाल का विस्तार कर श्रोताओं को मुग्ध कर सकता है; परन्तु वह उसके स्वयं की मुक्ति में सहायक नहीं होता। परा वाक्य अति सूक्ष्म होता है, मूलाधार चक्र में स्थित वायु से इसकी उत्पत्ति होती है। यह सुनाई नहीं देता। पश्यन्ति वाक् नाभिचक्र में स्थित वायु से उत्पन्न होता है एवं योगियों को सुनाई देनेवाला शब्द होता है। मध्यमा वाक् हृदय में स्थित चक्र से उत्पन्न होता है एवं सूक्ष्म शब्द होता है।

अविज्ञाते परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।।५९।।

आत्मस्वरूप को यदि न जाना तो शास्त्र पाठ व्यर्थ है, और यदि आत्मस्वरूप को जान लिया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक ही है ।।५९।।

शास्त्र पाठ द्वारा ब्रह्म विषय का अप्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। परन्तु शास्त्र पाठ के द्वारा ज्ञात तत्व यदि जीवन में अनुभूत नहीं हुआ, यदि ब्रह्म के साथ एकात्म-बोध नहीं हुआ, तो शास्त्र पाठ व्यर्थ हो जाता है। और जिस साधक ने ब्रह्मस्वरूप को अनुभव किया है, उसे शास्त्र पाठ की आवश्यकता नहीं रह जाती।

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमण कारणम् ।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्वज्ञात्तत्वमात्मनः ।।६०।।

महावन की भांति विभिन्न शास्त्र समुदाय चित्त में संशय उत्पन्न करने का कारण होता है। अतः विचारशील व्यक्ति यत्नपूर्वक श्रवण मनन आदि की सहायता से आत्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करेंगे ।।६०।।

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ।।६१।।

अज्ञान रूपी सर्प से डँसे हुए व्यक्ति को वेदपाठ अथवा शास्त्र पाठ से क्या फल लाभ होगा? और मंत्र या औषधि द्वारा भी उसका क्या उपकार होगा? एकमात्र ब्रह्मज्ञान रूपी औषधि द्वारा ही उसको मृत्यु से मुक्ति-लाभ हो सकता है ।।६१।।

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ।।६२।।

औषधि को बिना पिये केवल 'औषधि' शब्द का उच्चारण करने से रोग निरामय नहीं होता। अपरोक्षानुभूति के बिना केवल 'ब्रह्म शब्द' के उच्चारण द्वारा मुक्ति लाभ नहीं होता ।।६२।।

विवेक विचारहीन पण्डितों का उपदेश इस प्रकार होता है — "ब्रह्मास्मि शुद्धमेवाहं त्वं चासि ब्रह्म चिदघनम् श्रोतारश्च भवन्तोहमी ब्रह्मणतो मां समर्चत।" अर्थात् 'मैं शुद्ध ब्रह्म हूँ, तुम चिद्घन ब्रह्मस्वरूप हो। ये सभी श्रोतागण ब्रह्मस्वरूप हैं। अतः तुम सब मेरी पूजा करो।' प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए तीव्र आकांक्षा न होने पर शास्त्र चर्चा के फलस्वरूप अहंकार-वृद्धि की आशंका रहती है।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्र फलैर्नृणाम् ।।६३।।

दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है यह बिना निश्चय किए, आत्म का स्वरूप बिना अनुभव किए केवल जिह्वा द्वारा बाह्य शब्दों का उच्चारण मात्र करने से (मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने पर) मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है? [अर्थात् कभी सम्भव नहीं है] ।।६३।।

दृश्य का अर्थ, इन्द्रियों एवं मन के अनुभव से जाने जाने वाले विषय समूह से है। साधन चतुष्टय सम्पन्न

उपयुक्त अधिकारी साधक ब्रह्मज्ञ गुरु से 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य श्रवण के फलस्वरूप आत्मानुभव में समर्थ होता है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जिस ऊपर जमीन पर खेती नहीं की गयी है, उस पर वारिवर्षन से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार शब्द अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने पर भी, अयोग्य व्यक्ति उसके उच्चारण से लाभान्वित नहीं हो सकता। साधक के मन से भेदज्ञान के दूर होने पर ही अज्ञान का मूल से नाश होना सम्भव है। अज्ञान नष्ट हुआ है या नहीं, स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा हुई है या नहीं, यह साधक के स्वयं के अनुभव का विषय है।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥६४॥

प्रतिद्वन्द्वी शत्रु का विनाश किए बिना और राज्य-लक्ष्मी, राजकोष एवं सेनादि पर अधिकार किए बिना केवलमात्र 'मैं राजा हूँ' इस शब्द के उच्चारण द्वारा कोई राजा नहीं हो जाता ॥६४॥

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति।

तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमनन ध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥६५॥

भूगर्भ में सुरक्षित धनरत्नादि को प्राप्त करने के लिए प्रथम किसी जानकार व्यक्ति के उपदेश की एवं बाद में भूमि को खोदने, कंकड़ पत्थर आदि को हटाने तथा धन को ग्रहण करने की आवश्यकता होती है, केवल यह कहने पर कि 'धन' तुम आओ' धन लाभ नहीं होता। उसी प्रकार समस्त मायिक प्रपंच में मुक्त अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को जानने के लिए, ब्रह्मज्ञ पुरुष के निकट उपदेश प्राप्ति के पश्चात मनन ध्यानादि आवश्यक है। केवल तर्क विचार के द्वारा आत्मानुभूति सम्भव नहीं।

'उपदेश-मनन-ध्यानादिभिः'— इस 'आदि'-शब्द के द्वारा श्रवणादि की आवृत्ति का उपदेश दिया गया। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है, ''आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ४।१।१ 'श्रुति बार बार आत्मा का उपदेश देते हैं। अतएव अनुभूति के लिए श्रवणादि की बार बार आवृत्ति करनी होगी।'

ऋषि याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी को अमृतत्व लाभ का उपाय बताते हुए कहते हैं, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि !' बृ, २।४।५। 'मैत्रेयि, आत्मा ही अनुभवनीय, श्रवणीय, विचारणीय एवं निश्चित ध्येय है।''

'यथाऽपि हिरण्यनिधिं निहितम क्षेत्रज्ञा
उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः
सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एवं ब्रह्मलोकं
न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः।'' छा, ८।३।२

जिस प्रकार निधिशास्त्र को न जानने वाला व्यक्ति बारबार ऊपर विचरण करने पर भी भूगर्भ में सुरक्षित स्वर्ण को नहीं पाता, उसी प्रकार जीवगण प्रतिदिन (सुषुप्तिकाल में) ब्रह्मलोक जाते हैं परन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाते; क्योंकि, वे लोग मिथ्या (अज्ञानसम्भूत विषयतृष्णा) द्वारा स्वस्वरूप से विच्युत रहते हैं। (क्रमशः)

स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन-कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक:--स्वामी विदेहात्मानन्द

उन दिनों ठाकुर प्राय: ही कहा करते थे 'अरे ! तुमलोग एकांगी न होना। एकांगी होना यहाँ का भाव नहीं है। यहाँ पर झोल भी खाऊँगा, तीता भी खाऊँगा और खट्टा भी खाऊँगा-- यह भाव है।' और उनका यह भाव उनके अन्तरंगों के भीतर प्रविष्ट हो जाय इसलिए ठाकुर प्रत्येक के साधनाकाल में उसे विभिन्न साधनाओं में—यथा भक्तियोग के भजन में, ज्ञानयोग के विचार में, कर्मयोग की सेवा में और योग के ध्यान-धारणा में लगाये रखते थे। जिसमें वे जैसा भाव देखते उसे वैसी ही साधना में लगाकर वे उसकी कुण्डलिनी जगा देते थे। वे बताया करते थे—"कुलकुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने पर योग, भोग प्रेम यह सब होता है।" लाटू के समान साधक को भी विविध प्रकार के रस का आस्वादन कराने के लिए ठाकुर ने एक दिन कृपा करके लाटू की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर दिया था। निम्नलिखित प्रसंग मुझे राखाल महाराज से सुनने को मिला था।

"एक दिन ब्रह्ममुहूर्त में ठाकुर के आदेश पर लाटू ने हम सबको जगा दिया। तब भी भोर नहीं हुआ था। नींद से उठकर, आँख और मुँहपर पानी के छींटे मारकर उनके कमरे में आकर बैठते ही वे हम लोगों से बोले— 'आज तुम लोग खूब जप करो।' और वे स्वयं टहलते हुए 'जागो माँ कुलकुण्डलिनी' वाला भजन गाने लगे। वे गा रहे थे और हम जप कर रहे थे। अचानक ही न जाने क्यों मेरी देह काँप उठी और लेटो उहूँ कहकर चिल्ला उठा। इसे सुनकर ठाकुर उसके दोनों कन्धों को दबाकर बोले —'ऐसे ही बैठे रहना, तू आसन से उठ नहीं सकेगा।' मैं भलीभाँति देख रहा था कि लाटू को आसन पर बैठे रहने में तकलीफ हो रही है। परन्तु ठाकुर ने उसे उठने नहीं दिया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि लाटू अपनी बाह्यचेतना खो चुका है। ठाकुर तब भी वही भजन गा रहे थे। उस दिन उन्होंने लग· भग दो घण्टे तक वही भजन गाया था। इस प्रकार भजन के द्वारा भी वे हम लोगों में भाव संक्रमण कर देते थे।"

उपर्युक्त प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि ठाकुर ने उसी दिन भजन के द्वारा लाटू की कुलकुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुखी कर दिया था। हमने शास्त्र में पढ़ा है कि कुलकुण्डलिनी शक्ति दिव्य अनुभूतियों का प्रकाशद्वार है। उस शक्ति का जागरण हुए बिना अलौकिक दिव्य-दर्शन आदि होना सम्भव नहीं। ठाकुर कहा करते थे— "बड़ी साधना करने के बाद कहीं कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। कुण्डलिनी शक्ति जब जागती है तब वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर इन सबको क्रमश: पार करती हुई हृदय के अनाहत पद्म में आकर विश्राम करती है। जब लिंग, गुदा, नाभि से मन हट जाता है, तब ज्योति के दर्शन होते हैं। साधक आश्चर्यचकित होकर ज्योति देखता है और कहता है, 'यह क्या, यह क्या !'"

साधक लाटू की भी ठीक वही अवस्था हुई थी। निम्नलिखित प्रसंग हमें रामलाल दादा से सुनने को मिला था—"एक दिन दोपहर के बाद ठाकुर ने लाटू को शिव मन्दिर में ध्यान करने को भेजा। ध्यान करते करते लाटू बिलकुल तन्मय हो गया। शाम हो गयी तब

भी लाटू वहाँ से बाहर नहीं निकला। इसीलिए ठाकुर ने मुझे लाटू की खोज में भेजा। वहाँ पहुँचकर मैं क्या देखता हूँ कि लाटू पसीने से बिल्कुल भीग गया है और शान्त निश्चल ध्यान कर रहा है। उसमें बाधा डाले बिना ही मैंने उनके पास जाकर सारी बातें कहीं। वे हाथ में एक पंखा लेकर शिव मन्दिर की ओर चले और मुझसे एक गिलास पानी ले आने को कहा। पानी लेकर पहुँचने पर मैंने देखा कि ठाकुर लाटू को हवा कर रहे हैं। पंखे की हवा से लाटू का शरीर काँपने लगा ठीक जैसे कपास में कम्पन होता है वैसे ही। उस समय मैंने सुना ठाकुर कह रहे थे 'अरे! दिन तो ढल गया, सन्ध्या आदि की तैयारी कब करेगा?' ठाकुर का कण्ठस्वर सुनकर लाटू की बाह्यचेतना लौट आयी। उसने धीरे धीरे आँखें खोलीं। ठाकुर को हवा करते देखकर बड़ा ही आश्चर्यकित हुआ। तब ठाकुर कहने लगे 'गरमी से तुझे बड़ा पसीना आ गया है, पहले थोड़ा सुस्थ हो ले, फिर आसन से उठना।' ठाकुर की बात पर लाटू इतना लज्जित हुआ कि क्या बताऊँ! वह कहने लगा—'आप यह क्या कर रहे हैं! इससे मेरा अमंगल जो होगा! कहाँ तो मैं आपकी सेवा करूँगा, सो तो नहीं, उल्टे आप ही मेरे लिए कष्ट उठा रहे हैं।' ठाकुर तब स्नेहपूर्वक बोले—'अरे! तेरी सेवा कौन कर रहा है? तेरे भीतर जो वे (शिवलिंग की ओर संकेत कर) आये थे, क्या उनकी सेवा नहीं करूँगा? यह कैसी बात है? इतनी गरमी में उन्हें कष्ट हो रहा था। अच्छा, वे जो तेरे भीतर आये थे, क्या तू यह जान सका था?' तब लाटू ने कहा - 'मैं तो कुछ भी नहीं जानता, पर उनकी ओर देखते देखते मुझे एक ज्योति दीख पड़ी, उसी ज्योति से यह पूरा कमरा भर गया, और कुछ भी मुझे याद नहीं।' ठाकुर यह सुनकर बोले—'अच्छा! अच्छा! ऐसा और भी कितना देखेगा। अब एक गिलास पानी तो पी ले।' आसन से उठकर लाटू ने वह जल पीया।"

इसके बाद से जपध्यान में बैठते ही लाटू को ज्योति-दर्शन होता था। निम्नलिखित प्रसंग के द्वारा हमने यह अनुमान किया है, जो हमें योगीन महाराज से सुनने को मिला था।

"एक दिन सन्ध्या के समय मैं (योगीन महाराज) ठाकुर के कमरे में बैठा हुआ था। मैंने देखा कि लाटू उसी कमरे की ओर चला आ रहा है। कमरे में आकर उसने ठाकुर को प्रणाम किया। तब ठाकुर ने उससे पूछा—'यह क्या! इसी बीच तू उठकर चला भी आया?' लाटू ने उत्तर दिया - 'आज मन को जप में स्थिर नहीं कर सका।' ठाकुर बोले - 'क्यों रे?' लाटू ने कहा—क्या जाने! अन्य दिन तो जप में बैठते ही कुछ देखने को मिलता है, और मन उसमें अच्छा लग जाता है; आज क्या जाने क्यों मन को कैसे भी वश में नहीं ला सका।' यह सुनकर ठाकुर बोले - 'जरूर कुछ न कुछ हुआ है!' तब लाटू ने कहा - 'आज मन्दिर को जाने के पहले मन में आया था कि यदि माँ वर देने को आवें तो क्या माँगूँगा?' यह बात सुनकर ठाकुर बोले 'वही तो हुआ! कामना रखने से क्या मन कभी जप में बैठता है? ऐसा मत करना। ध्यान में बैठकर वर नहीं माँगना चाहिए? सभी लोग तो ध्यान में देवी-देवताओं के दर्शन पाकर वर माँग लेते हैं। इसीलिए मैं पूछ बैठा - 'माँ तो ध्यान में ही दर्शन दिया करती हैं, तो उस समय वर माँगने में क्या दोष है?' ठाकुर ने मुझसे कहा—'नहीं रे नहीं, वर नहीं माँगना चाहिए। यदि माँ तुझे वर माँगने पर जोर ही दें तो तू कहना—'माँ! मुझे शुद्धाभक्ति दो। मैं धन,जन, देहसुख यह सब कुछ भी नहीं माँगता। केवल यही चाहता हूँ कि तुम्हारे पादपद्मों में शुद्धाभक्ति हो।'"

ज्योतिदर्शन ही ध्यान की अन्तिम बात नहीं है। ध्यान में जब तक ज्योतिर्घनमूर्ति का आविर्भाव नहीं होता तब तक (साकारवादी) साधक का ध्यान समाधि में नहीं लीन हो सकता। इसीलिए अनेक लोगों का कहना है कि इष्ट दर्शन हुए बिना ध्यान पक्का नहीं होता। परवर्ती काल में लाटू महाराज भी ठीक यही बात कहते

थे। वे हम लोगों को समझाते थे—'तुम हो और तुम्हारा इष्ट है, इस जगत में और कोई भी नहीं है—इसी को ध्यान कहते हैं।' इस प्रकार के ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाने पर ही साधक का अपने मन पर अधिकार हो जाता है। तब मन की चंचलता साधक को ठग नहीं सकती। मन के ध्यान से विच्युत होते ही साधक समझ जाता है। साधक तब देख पाता है कि चौबीस घण्टों के भीतर मन कितने प्रकार से बदल रहा है, कितने तरह के खेल कर रहा है ! उस अवस्था में पहुँचने पर मन की चंचलता व्यक्त होने के पूर्व ही मन की पकड़ में आ जाती है। चांचल्य कारक प्रत्येक स्पन्दन से तव साधक का मन सावधान हो जाता है। तव राग, द्वेष, क्रोध आदि बाहर अभिव्यक्त नहीं हो पाते। ईर्ष्या, पाप आदि सब देहमन से मिट जाते हैं।.... जब ध्यानी का स्वभाव ही अलग हो जाता है; देह की गठन भी बदलती रहती है।.... तब साधक के नेत्र-मुख देखकर ही, वातचीत सुनकर ही समझ में आ जाता है कि वह ध्यानी है। जो लोग सच्चे ध्यानी हैं उनका देखना, चलना और श्वांस-प्रश्वांस की गति बदल जाती है।.... तब साधक की वायु स्थिर हो जाती है, प्रसन्नता आती है, मन भी खूब शान्त रहता है। .. ध्यानकाल में वीच वीच में देहबुद्धि चली जाती है और मन की जड़ता दूर हो जाती है।

वे (ठाकुर) कहते थे—"ध्यान ठीक हो रहा है, इसके कई लक्षण हैं। एक यह है कि जड़ समझकर सिर पर पक्षी बैठ जाया करेंगे....देह पर से होकर साँप चला जाएगा—साधक जान नहीं सकेगा और उसे भी पता नहीं चलेगा।.... एक और लक्षण है— सब समय ध्यान चलता रहेगा आँखें खोलकर भी ध्यान होता रहेगा, वातें करते करते भी ध्यान होता रहेगा। जैसे दाँत की बीमारी में सब काम चलता रहता है, पर मन उसका दर्द पर ही लगा रहता है, उसीप्रकार ध्यान भी चलता रहेगा।" यदि इस तरह से सभी कार्यों के बीच भी किसी का ध्यानस्रोत प्रवाहित होता रहे तो वह शीघ्र ही ज्योतिर्घनमूर्ति का दर्शन और स्पर्श पाकर समाधि में लीन हो जाएगा, इसमें आश्चर्य की क्या बात है !

निम्नलिखित प्रसंगों के आधार पर हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि साधक-लाटू भी ध्यान में उसी प्रकार तन्मय हो जाया करता था। सर्व प्रथम हम स्वामी अद्वैतानन्द से श्रुत 'तन्मयता' का प्रसंग दे रहे हैं—

"एक दिन लाटू दिन के समय गंगा के किनारे बैठकर ध्यान कर रहा था। उसी समय गंगा में ज्वार उठा। लाटू जिस जगह पर बैठकर जप किया करता था, आम तौर पर जल वहाँ तक न उठता था। पर उस दिन ज्वार का जोर अधिक होने से वहाँ तक भी पानी आ गया। ज्वार का पानी आ जाने पर लाटू की चेतना न लौटती देखकर मैं ठाकुर को बुलाने गया। मेरी बात सुनते ही ठाकुर वहाँ शीघ्रतापूर्वक आये। आकर उन्होंने देखा कि लाटू के चारों ओर पानी जमा हो गया है। तब उस पानी में से जाकर उन्होंने लाटू को पुकार कर उठाया।"

एक और प्रसंग है—यह भी उन्होंने ही बतायी थी। "ध्यान करते हुए एक दिन लाटू संज्ञाहीन होकर धरती की ओर मुख किए गिर पड़ा और फिर गुँगुआने लगा। उसे पड़ा देखकर मेरे मन में एक तरह का भय हुआ। मैं शीघ्रतापूर्वक जाकर ठाकुर को वहाँ बुला लाया। आते ही उन्होंने लाटू को चित्त लिटा दिया और उसकी छाती सहलाने लगे। क्रमशः लाटू की सहज अवस्था लौट आने पर उन्होंने पूछा—'क्या आज तुझे माँ-काली का दर्शन हुआ है? चुप कर बेटा, चुप कर। सुनते ही अभी यहाँ एक बवेला मच जायगा।' ठाकुर की बात सुनकर लाटू चुप रहा। लेकिन उसके बाद से ही मैं देखता कि ध्यान करते समय लाटू की आँखें, मुख और छाती लाल हो जाती थी और यह लालिमा काफी देर तक बनी रहती थी।"

अब हम बलराम मन्दिर का एक वार्तालाप प्रस्तुत करते हैं। एक दिन एक भक्त ने लाटू महाराज से

पूछा —साधनाकाल में (इष्ट के अतिरिक्त) विभिन्न देवी-देवता की मूर्ति देखना अच्छा है या नहीं।'

लाटू महाराज देवी-देवता की मूर्ति देखना सर्वदा ही अच्छा है। ध्यान में एक ही इष्ट की मूर्ति नाना देवी-देवताओं के रूप धारण करके आती है। यह सब इष्ट की ही लीला है। जब एक के भीतर ही सब है, तो देवी-देवताओं के बीच भेदभाव क्यों करोगे ?

लाटू महाराज की बात सुनकर भक्त ने पुनः प्रश्न किया—'महाराज ! शास्त्र में विभिन्न मूर्तियों की विभिन्न भावों से चर्चा हुई है। वहाँ (शास्त्र में) देवी-देवताओं की प्रत्येक मूर्ति का ध्यान अलग है, पूजा अलग है, प्रणाम-मन्त्र अलग है और बीजमंत्र भी अलग बताया गया है। इसके बावजूद एक ही इष्ट का ध्यान करने पर क्यों विभिन्न देवी-देवताओं का दर्शन प्राप्त होता है ? और ऐसा दर्शन साधना की दृष्टि से कल्याणकर है या नहीं ?'

लाटू महाराज—अरे ! तुम लोग तो सब अलग अलग सोचते हो। परन्तु स्वरूप में तो सभी देवी-देवता एक हैं। रूप में अनेकता होने से क्या हुआ ? स्वरूप में तो कोई गड़बड़ी नहीं है; वहाँ तो सभी मूर्तियाँ एक के साथ अभेद हैं। यही देखो न—तुम एक मनुष्य हो, जब तुम क्रोध करते हो तब तुम्हारी एक प्रकार की मूर्ति है, जब हँसते हो तो एक अन्य प्रकार की और जब रोते हो तो एक अन्य प्रकार की होती है। जैसे जैसे तुम्हारे मन का रंग बदलता रहता है, वैसे ही वैसे तुम्हारी मूर्ति में भी अदल-बदल होता रहता है, परन्तु तुम तो वही के वही रह जाते हो। तुम चाहे जब जिस भाव में भी क्यों न रहो, तुम्हारा नाम लेकर पुकारने से तुम्हीं तो उत्तर देते हो। उसी प्रकार यहाँ भी है। वे कहा करते थे —'गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है; कभी वह लाल है, तो कभी हरा, कभी पीला है तो कभी कत्थई, बैंगनी या नीला। जो जैसा देखता है वह वैसा ही समझता है। परन्तु जो पेड़ के नीचे बैठा रहता है वही जानता है कि एक ही जीव के विविध रंग हैं।' उसी प्रकार जो इष्ट के ध्यान में लवलीन रहता है, वही समझ पाता है कि नाम रूप में भेद होने पर भी स्वरूप में सब एक हैं।

उपर्युक्त वार्तालाप यहाँ उद्धृत करने का एक कारण है। साधक-लाटू को अपने ध्यानकाल में विभिन्न मूर्तियों का दर्शन मिला था। यह बात अनेक प्रसंगों में व्यक्त होता है। प्रत्येक का अलग अलग वर्णन न करके हम यहाँ उनका सार-संक्षेप दे रहे हैं। ध्यान में उन्होंने रामजी का, महावीर का, विश्वनाथ का, माँ काली का, कृष्णजी का और योगमाया का दर्शन किया था। इसके अतिरिक्त हो सकता है कि उन्होंने और मूर्तियाँ भी देखी हों, पर उनके बारे में हमें कुछ ज्ञात नहीं हैं।

(क्रमशः)

अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे। तब तुम अपनी प्रकृत आत्मा को जान लोगे। 'इस आत्मा के सम्बन्ध में पहले श्रवण करना चाहिए, फिर मनन और तत्पश्चात् निदिध्यासन।''

- स्वामी विवेकानन्द